MATRICULATION EXAMINATIONS OF BENARES AND PATNA UNIVERSITIES AND HIGH SCHOOL EXAMINATION OF U. P. BOARD.

3·5 m. 1944

Printed by
RAMZAN ALI SHAH
at the National Press, Allahabad.

प्रस्तावना

मनुष्य का स्वास्थ्य प्रकृति के साधारण नियमों के उचित पालन पर नेर्भर करता है। और उनकी अवहेलना से स्वास्थ्य नष्ट होता है। इन नेयमों का पालन बहुत ही सहज है। प्रकृति ने हमारे शरीर में ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि स्वयं हमको मालूम हो जाता है कि जो कर्म हमने किया है उससे हमको लाभ होगा या हानि। अधिक भोजन करने से डकार आने लगती है, पेट भारी हो जाता है और शरीर में आलस्य उत्पन्न हो जाता है। यह प्रकृति की हमको सावधान करने की सूचना है कि अधिक भोजन से शरीर को हानि पहुँचती है; हलके भोजन से लाभ होता है। थोड़े स्थान में बहुत से आदमियों के एकत्र हो जाने से साँस घुटने लगता है और बेचैनी मालूम होने लगती है। यह इस बात का सूचक है कि खुला हुआ स्थान, हमारे रहने के लिये उचित है। जहाँ भीड़ होती है वहाँ की वायु दूषित हो जाती है और शरीर को हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार वस्त्र, जल, निद्रा, व्यायाम इत्यादि बातों को समझना चाहिये।

संसार में मनुष्य स्वस्थ दशा में उत्पन्न होता है। यदि वह प्रकृति के नियमों को भंग न करे तो उसके स्वास्थ्य बिगड़ने का कोई कारण नहीं हो सकता। जब वह उन नियमों को तोड़ता है तभी नाना प्रकार के रोग उसको सताते हैं। हाँ, कुछ बच्चे अवश्य ऐसे उत्पन्न होते हैं जो अत्यन्त दुर्बल होते हैं या जिनमें रोग की प्रवृत्ति होती है। तनिक सी भी अनुपयुक्त दशा होने पर उनको रोग हो जाता है। बहुधा इन बच्चों के माँ बाप को रोग होता है। किन्तु प्रयोगों द्वारा अब यह सिद्ध हो चुका है कि इन बालकों को भी उचित उपायों द्वारा माता पिता के रोगों से बचाया जा

सकता है और उनके भी उत्तम स्वास्थ्य के आनन्द उठाने की उतनी ही संभावना हो सकती है जितनी कि किसी भी स्वस्थ बच्चे की।

स्वास्थ्य विज्ञान प्रकृति के इन्हीं स्वास्थ्य संबंधी साधारण नियमों को बताता है। शरीर की क्या आवश्यकतायें हैं, और उनको किस प्रकार पूरी करनी चाहिए तथा कितनी पूरी करनी चाहिये इन सब बातों का विचार स्वास्थ्य विज्ञान में किया जाता है। इन्हीं पर व्यक्ति का स्वास्थ्य निर्भर करता है। कुछ ऐसे भी रोग होते हैं, और हमारे देश में ऐसे रोगों की संख्या बहुत अधिक है, जो बाहिरी आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होते हैं। इनके कारण शरीर के भीतर नहीं होते। किन्तु उनके जीवाणु इत्यादि बाहिर से शरीर में प्रविष्ट होकर उसको रोग ग्रस्त कर देते हैं। मोती झरा, प्लेग, चेचक, हैज़ा इत्यादि ऐसे ही रोग हैं जिनसे प्रति वर्ष हज़ारों मनुष्य मृत्यु का ग्रास बनते हैं। इन रोगों को रोकना तथा उनके नाश करने के उपायों का विचार स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा ही किया जाता है।

हमारे देश में स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। इन रोगों से जितनी मृत्यु तथा हानि हमारे देश में होती हैं उतनी किसी भी सभ्य देश में नहीं होतीं। जहाँ इङ्गलैण्ड मे एक हज़ार बच्चों में से केवल ७३ बच्चों की प्रथम वर्ष में मृत्यु होती है वहाँ हमारे देश में ३३० की होती है। स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों के ध्यान और उचित उपायों द्वारा पश्चिमी देशों में इतनी उन्नति हुई है कि न केवल बाल-मृत्यु ही परन्तु साधारण मृत्यु संख्या भी बहुत घट गई है। वहाँ पर हैज़ा, प्लेग इत्यादि रोग का नाम भी नहीं रहा। पनामा का देश जो कभी White Man's Grave कहा जाता था अब हमारे देश के कई प्रान्तों से अधिक स्वास्थ्यप्रद है।

हमारे देश में रोग और अस्वास्थ्य का बहुत बड़ा कारण, कंगाली के अतिरिक्त, स्वास्थ्य संबंधी अज्ञानता है। साधारण रोग किस प्रकार से फैलते हैं, उन रोगों को रोकने के लिये औषधि के अतिरिक्त क्या किया जा सकता है, शरीर को अस्वच्छ रखने से क्या हानि होती है इत्यादि

ऐसी बात हैं जिनके साधारण ज्ञान से कम से कम ३।४ रोगों को रोका जा सकता है और स्वास्थ्य को उन्नत किया जा सकता है। इस ज्ञान को फैलाने की विशेष कर अशिक्षित समुदाय तथा गाँवों में बहुत आवश्यकता है। इन शिक्षित व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे, जब भी उनको अवसर मिले, इस काम को करें।

इस पुस्तक में इन्हीं स्वास्थ्य संबंधी विषयों का अलग रूप से विचार किया गया है। शिक्षकों को उचित है कि जहाँ तक हो सके विद्यार्थियों को अपने कथनानुसार प्रत्यक्ष प्रदर्शन दें। तथा जो बातें दिखाई जा सकें उनको प्रत्यक्ष दिखावें। इससे उनकी ज्ञान वृद्धि होगी और विषय में उत्साह बढ़ेगा। यह एक देशोपयोगी अत्यन्त महत्व का विषय है और इस पर जितना भी ध्यान दिया जाय कम है।

मुकुन्द स्वरूप वर्मा

विषय-सूची

वायु

वायु जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है और स्वास्थ्य के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध है। मनुष्य भोजन के बिना दो या तीन मास तक जीवित रह सकता है ; जल न मिलने पर भी कुछ दिन तक उसका जीवित रहना संभव है, किन्तु वायु के न मिलने से वह कुछ मिनट भी जीवित नहीं रह सकता। न केवल मनुष्य ही किन्तु प्राणी मात्र का जीवन वायु पर निर्भर करता है।

हमारे स्वास्थ्य का वायु से घनिष्ठ संबंध है। शुद्ध वायु से स्वास्थ्य सुधरता है और दूषित वायु से स्वास्थ्य बिगड़ता है और नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण क्षय (तपेदिक) के रोगियों को पहाड़ पर रहने को भेजा जाता है जहाँ उनको शुद्ध वायु मिल सके। हम आगे चल कर देखेंगे कि किस प्रकार शुद्ध वायु से शरीर का बल बढ़ता है तथा उसकी रोग-निवारण शक्ति भी बढ़ती है और किस प्रकार अशुद्ध वायु शरीर को रोगों का ग्रास बना देती है।

वायु का संगठन :—जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसके लगभग २०० मील तक चारों ओर वायु फैली हुई है। इसके बाहर वायु नहीं है। यह पृथ्वी का 'वायुमंडल' कहलाता है। इसी वायुमंडल में हम श्वास द्वारा वायु को फेफड़ों के भीतर लेते हैं और इसी में श्वास द्वारा वायु को फेफड़ों में से निकालते हैं। फेफड़ों से निकली हुई इस वायु से वृक्ष अपना भोजन लेते हैं। वायु ही से अग्नि प्रज्वलित होती है। जहाँ वायु पर्याप्त

नहीं होती वहाँ अग्नि भी नहीं जलती। वायु के अधिक पहुँचाने पर, जैसा कि पंखा चला कर किया जाता है, आग जल जाती है।

वायु वास्तव में कई पदार्थों का मिश्रण है जो गैस के रूप में वायु में उपस्थित रहते हैं। इन भिन्न भिन्न पदार्थों के काम भी भिन्न हैं। जिस प्रकार अन्य पदार्थों में भार होता है, उसी प्रकार वायु में भी भार है और उसको तोला जा सकता है। अन्य गैसों की भाँति वायु को तरल तथा ठोस रूप में परिणत किया जा सकता है। तरल वायु जल के समान होती है और ठोस वायु श्वेत चूर्ण या कच्चे बरफ़ की भाँति। यदि तरल या ठोस वायु को शरीर पर लगा दिया जाय तो वह स्थान, जहाँ वह लगाई गई है जल जायगा और वायु फिर से गैस में परिणत हो जायगी।

वायु मुख्यतया आक्सीजन और नाइट्रोजन नामक दो गैसों का मिश्रण है। अन्य जो गैस वायु में पाई जाती हैं वह उसमें दोष के रूप में उपस्थित हैं; उसके स्वाभाविक अवयव नहीं हैं। इन अवयवों की मात्रा उस स्थान पर निर्भर करती है जहाँ से वायु को परीक्षा के लिये एकत्र किया गया है। इस कारण भिन्न भिन्न स्थानों पर वायु में भिन्न भिन्न वस्तुयें मिलेंगी। किन्तु कार्बन-डाई-आक्साइड (Carbon dioxide) ऐसी गैस है जिसकी कुछ मात्रा प्रायः सभी स्थानों में पाई जाती है।

अतएव वायु की रासायनिक परीक्षा करने पर उसमें ये गैसें निम्न-लिखित अनुपात में पाई जाती हैं।

आक्सीजन	२० · ९४ भाग
नाइट्रोजन	७९ · ०२ ,,
कार्बन-डाइ-आक्साइड	० · ०४ ,,
वायु	१०० · ०० ,,

यह साधारण खुले हुए स्थानों की वायु का संगठन है।

इन गैसों के अतिरिक्त वायु में जल के कुछ वाष्प (Vapours) भी सदा उपस्थित पाये जाते हैं। धूल के कुछ कण भी रहते हैं। किन्तु इनकी मात्रा ऋतु और स्थान के अनुसार भिन्न होती है। वर्षा ऋतु में जलवाष्पों की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। मई-जून में धूलकण अधिक होते हैं।

वायु के अवयवों के भिन्न भिन्न कर्म हैं। इस कारण उनका कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

आक्सीजन (O_2)—यद्यपि वायु में इस गैस का केवल $\frac{1}{5}$ भाग उपस्थित है, किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक और महत्वशाली अवयव है। इसकी अनुपस्थिति में न कोई जीवित रह सकता है और न अग्नि ही प्रज्वलित हो सकती है। यह एक रंग-विहीन गैस है जिसमें न कोई गंध है और न स्वाद। यदि इस गैस को एक परीक्षा नलिका (Test Tube) में भर कर एक जलती हुई दियासलाई को उसके भीतर की ओर कर दें तो वह दियासलाई और भी तेज़ी के साथ जलने लगेगी और अधिक ज्वाला निकलेगी। यदि बुझती हुई दियासलाई को इस गैस में रक्खा जाय तो वह जल उठेगी। वास्तव में यही गैस वायु का वह भाग है जो अग्नि को प्रज्वलित करती है, कोयले और लकड़ियों को जलाती है, और लैम्प (Oil lamps) से प्रकाश उत्पन्न करती है। जब भी कोई वस्तु जलती है तो उसका इस गैस से संयोग होता है। इसके संयोग बिना वह नहीं जल सकती। प्रकाश और ताप तभी उत्पन्न होते हैं जब इस गैस से संयोग होता है।

मनुष्य और अन्य प्राणियों के शरीर में जो ताप होता है वह भी इसी प्रकार उत्पन्न होता है। वास्तव में जीवन (Life) एक प्रकार का शरीर के अवयवों का धीमा धीमा जलना है। रक्त के लाल कण आक्सीजन को वायु से ग्रहण करके शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म कण के पास, जिसको सैल (Cell) कहते हैं, पहुँचाते हैं। इन कणों की वस्तु के साथ आक्सीजन का संयोग होता है। इस विधि का नाम Oxidation है जो जलने का केवल रूपान्तर है। रासायनिक भाषा में दोनों व[illegible]क ही अर्थ है। इस

विधि से ताप उत्पन्न होता है जिससे शरीर का ताप यथावत् रहता है और जीवन नष्ट नहीं होता। यदि यह गैस शरीर के आन्तरिक भागों को न मिले तो जीवन का शीघ्र ही अन्त हो जाय। मनुष्य तथा जन्तु सब ही इसको वायु से ग्रहण करते हैं। जल में रहने वाले जीव आक्सीजन को जल से गलफड़ों (Gills) द्वारा लेते हैं।

यद्यपि यह गैस शरीर के लिये इतनी आवश्यक है, तथापि हम उसको शुद्ध रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। शुद्ध आक्सीजन इतनी प्रबल होती है कि उससे शरीर को हानि पहुँचती है। इसी कारण वायु में आक्सीजन के साथ नाइट्रोजन मिली रहती है।

ओज़ोन (O_3)—यह भी आक्सीजन का ही एक रूप है। आक्सीजन के एक अणु (Molecule) में दो परमाणु होते हैं (O_2)। किन्तु ओज़ोन के एक अणु में आक्सीजन के ३ परमाणु पाये जाते हैं (O_3)। यह गैस, समुद्र पर, पहाड़ों पर विशेष कर उनकी चोटियों के पास तथा अन्य स्थानों पर, जहाँ बादलों द्वारा बिजली उत्पन्न होती रहती है, अधिक पाई जाती है। यह आक्सीजन की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है और गले सड़े पदार्थों को शीघ्र ही नष्ट करके वायु-मंडल को शुद्ध करती है।

नाइट्रोजन (N_4)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस गैस का काम आक्सीजन की शक्ति को घटाना है। श्वास द्वारा नाइट्रोजन के जितने भाग भीतर जाते हैं, श्वास बाहर निकालने पर लगभग उतने ही भाग बाहर निकल आते हैं। यह गैस शरीर के किसी काम में नहीं आती।

यह गैस भी रंग, स्वाद और गंध से रहित है। यह जलने की क्रिया को भी सहायता नहीं देती और न स्वयं ही जलती है। यदि एक जलती हुई दियासलाई इस गैस में डाली जावे तो वह तुरन्त बुझ जायगी। इसी प्रकार इसमें जीवन भी नहीं रह सकता। यदि एक काँच की कोठरी (Glass chamber) में ख़रगोश रक्खा जाय और उस कोठरी के वायु-

मंडल से आक्सीजन को निकाल दिया जाय, तो ख़रगोश को वाँयटें (Convulsions) आने लगेंगे और वह शीघ्र ही मर जायगा। किन्तु यदि उसके मरने के पूर्व कोठरी में धीरे धीरे आक्सीजन पहुँचाई जाय तो जन्तु जीवित हो जायगा और उसके वाँयटें बन्द हो जायेंगे।

कार्बन-डाई-आक्साइड (CO)—ऊपर दिये गये अंकों से स्पष्ट है कि प्रायः सभी स्थानों पर वायु के सौ भागों में इस गैस के ०·०४ भाग पाये जाते हैं। जो गन्दे स्थान होते हैं, जैसे मिल्स और फैक्टरियों के पास जहाँ उनकी चिमनियों से निकला हुआ धुआँ सदा एकत्र रहता है, तथा जहाँ थोड़े स्थान में बहुत से मनुष्य एकत्रित होते हैं, जैसे सिनेमा, थियेटर इत्यादि में, वहाँ की वायु में इस गैस की मात्रा अधिक होती है। जब तक इसकी मात्रा ०·०४ प्रतिशत अथवा वायु के १००,०० भागों में इसके ४ भाग रहते हैं तब तक शरीर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। किन्तु इससे अधिक होने पर शरीर को हानि पहुँचती है।

इस गैस में भी कोई रंग नहीं होता। किन्तु उसमें एक हलकी सी गंध होती है। इसमें कोई वस्तु नहीं जल सकती और न वह स्वयं ही जलती है। यदि किसी जलती हुई वस्तु को इस गैस में रख दें तो वह तुरन्त बुझ जायगी। यह गैस पृथ्वी पर अनेक प्रकार से उत्पन्न होती है जिसमें से निम्न लिखित मुख्य हैं :—

(१) श्वास द्वारा—जब हम लकड़ियाँ जलाते हैं तो वायु की आक्सीजन का लकड़ियों के साथ संयोग होकर जलने की क्रिया होती है। अर्थात् वायु का आक्सीजन लकड़ियों में उपस्थित कार्बन के साथ संयोग करता है। इस संयोग से कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न होती है। साथ ही ज्वाला और प्रकाश तथा ताप भी प्रगट होते हैं। शरीर के भीतर भी ठीक इसी प्रकार की क्रिया होती है। वायु की आक्सीजन शरीर के अवयवों में उपस्थित कार्बन तथा अन्य अवयवों के साथ मिल कर जलने की क्रिया को उत्पन्न करती है। किन्तु इस जलने का रूप दूसरा होता है। उससे

खाना और प्रकाश नहीं उत्पन्न होते, किन्तु ताप और कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होते हैं। इस गैस को हम श्वास द्वारा बाहर निकालते हैं। यह हिसाब लगाया गया है कि एक साधारण शरीर वाला व्यक्ति एक घंटे में आधा घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड अपने श्वास द्वारा बाहर निकालता है।

(२) जलने की क्रिया— पृथ्वी पर जितनी जलने की क्रिया होती है उसका विचार करके यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि इस क्रिया से कितनी कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होती है। लैम्प, तेल के दिये, मोमबत्ती, मिट्टी के तेल, लकड़ी, कोयले इत्यादि के जलने से यह गैस सदा उत्पन्न होती रहती है।

(३) सड़ने से— फल, पत्ती, जन्तुओं के मृत शरीर तथा अन्य ऐन्द्रिक पदार्थों के सड़ने पर यह गैस बहुतायत से बनती है।

इन सब क्रियाओं से इतनी अधिक कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न होती है कि यदि वह सब एक ही स्थान पर एकत्रित रहे तो वहाँ के वायु मंडल में कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। किन्तु गैसों में विसर्जन (Diffusion) का गुण होता है। जहाँ एक गैस अधिक होती है वहाँ से वह गैस दूसरे स्थान में, जहाँ उसकी मात्रा कम होती है, चली जाती है जिससे वायु-मंडल में गैसों की मात्रा लगभग समान रहती है। यदि एक कोठरी में आक्सीजन भर दें और दूसरी में कार्बन-डाई-आक्साइड, तो दोनों गैसें अपनी अपनी कोठरी से दूसरी कोठरी में जाने लगेंगी और कुछ समय पश्चात् दोनों कोठरियों में दोनों गैस समान मात्रा में उपस्थित मिलेंगी। यह विसर्जन का गुण है जिसके कारण गैस आपस में मिल जाती है और किसी एक स्थान पर एक गैस अधिक मात्रा में एकत्र नहीं हो पाती। वायु-मंडल की शुद्धि इसी गुण पर निर्भर करती है।

वायु की अशुद्धियाँ— (१) कार्बन-डाई-आक्साइड जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है वायु में अशुद्धि के रूप में उपस्थित है। किन्तु जब तक वायु के १०,००० भागों में इस गैस के चार भाग

उपस्थित रहते हैं वहाँ तक उसको अशुद्ध नहीं माना जाता, क्योंकि उससे स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं पहुँचती। किन्तु इससे अधिक होने पर शरीर को हानि पहुँचती है और इस कारण उसको वायु की अशुद्धि माना जाता है।

कार्बन-डाई-आक्साइड की उत्पत्ति के जो कारण बताये जा चुके हैं उनसे स्पष्ट है कि यह गैस उन स्थानों में अधिक पाई जायगी जहाँ जलने, सड़ने, गलने की क्रिया अधिक होती हो अथवा जहाँ बहुत से मनुष्य एकत्र हों। इस कारण गाँव की अपेक्षा नगर के वायु-मंडल में अथवा जहाँ फैक्टरी अधिक हों वहाँ की वायु में इस गैस की मात्रा अधिक पाई जाती है।

यद्यपि संसार में यह गैस इतनी अधिक उत्पन्न होती है तो भी वायु-मंडल में इसकी मात्रा प्रायः एक समान ही बनी रहती है। इसका मुख्य कारण गैसों का विसर्जन गुण है जिसको पहिले बताया जा चुका है। वृक्ष भी इस गैस को नष्ट करने में बहुत सहायता देते हैं। वृक्षों के जितने हरे भाग हैं वे सब कार्बन-डाई-आक्साइड का शोषण करते हैं। इस कार्बन-डाई-आक्साइड के कार्बन को वे अपने भोजन के रूप में परिणत कर लेते हैं और आक्सीजन को वे वायु-मंडल में लौटा देते हैं। इस प्रकार वे कार्बन-डाई-आक्साइड की बहुत बड़ी मात्रा को वायु-मंडल से दूर कर देते हैं। वर्षा से यह गैस तथा अन्य गैसें भी कम हो जाती हैं। वर्षा का जल उनको सोख लेता है।

(२) जल के वाष्प—ताप के कारण जल का सदा वाष्पीभवन (Evaporation—भाप बन कर उड़ना) होता रहता है। गरमी की ऋतु में गीला वस्त्र तुरन्त ही सूख जाता है। यदि किसी स्थान पर जल गिर जाता है तो वह तुरन्त शुष्क हो जाता है। किन्तु जाड़े के दिनों में जल्दी शुष्क नहीं होता। जाड़े में वायु-मंडल में जल की मात्रा अधिक रहती है। किन्तु ग्रीष्म काल में वह

बहुत कम हो जाती है। साधारणतया वायु-मंडल में १ से १५ प्रतिशत भाग जल-वाष्प रहते हैं। इससे अधिक होने पर वायु की आर्द्रता (Humidity) बहुत बढ़ जाती है और वह असह्य हो जाती है जैसे कि वर्षा काल में। ग्रीष्म काल में वाष्प की मात्रा कम होने से वायु रूक्ष प्रतीत होती है।

जब वायु में जल-वाष्प की मात्रा अधिक हो जाती है और वायु-मंडल का ताप भी अधिक होता है तो वह स्वास्थ्य को अत्यन्त हानिकर होता है। इसी कारण वर्षा ऋतु में बीमारियाँ बहुत फैलती हैं।

(३) धूल के कण—किसी छिद्र द्वारा कमरे के भीतर आने वाले प्रकाश के मार्ग में धूल के कण उड़ते हुए देखे जा सकते हैं। इनमें अनेकों वस्तुओं के सूक्ष्म कण मिले रहते हैं। मुख्यतया धूल के कण, शुष्क विष्ठा के कण, रुई अथवा ऊन के धागे, शुष्क श्लेष्मा अथवा बलग़म, जले हुए कोयले के टुकड़े व राख, रोगों के जीवाणु इत्यादि उपस्थित रहते हैं। फैक्टरियों के वायु-मंडल में जिस वस्तु का वहाँ काम होता है उसके टुकड़े अधिकता से पाये जाते हैं। यह वहाँ पर काम करने वालों के फेफड़ों में श्वास के साथ पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं। धूल के द्वारा अनेक रोगों के जीवाणु शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। राजयक्ष्मा, इन्फ्लुयेंज़ा, डिफ्थीरिया इत्यादि रोगों के जीवाणु इसी प्रकार रोगियों के मुख से उनके श्वास, खाँसने या छींकने के साथ निकल कर दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों के शरीर में पहुँच जाते हैं। चेचक, खसरा इत्यादि भी इसी प्रकार फैलते हैं।

(४) अन्य गैसें—कार्बन-डाई-आक्साइड के अतिरिक्त अन्य गैसें भी उपस्थित पाई जाती हैं। कार्बन-मानो-आक्साइड (CO) कोयले के पूर्णतया न जलने से उत्पन्न होती है। यह कार्बन-डाई-आक्साइड की अपेक्षा कहीं अधिक हानिकारक होती है और इससे, विशेष कर योरुप में, बहुत से व्यक्ति प्रत्येक वर्ष मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस कारण जब

तक अंगीठी भली भाँति न सुलग जाय और उससे धुआँ निकलना बन्द न हो जावे तब तक उसको कमरे के भीतर न रखना चाहिये। भीतर रखने पर कमरे की खिड़कियाँ खोल देनी चाहिये।

इनके अतिरिक्त अन्य गैसें भी वायु में उपस्थित मिल सकती हैं, विशेष कर जहाँ पर कल या कारख़ाने होते हैं। वहाँ के वायु-मंडल में उन कारख़ानों से उत्पन्न हुई गैसें उपस्थित होती हैं। हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, कार्ब्यूरेटेड हाइड्रोजन, सल्फ़ुरिक अम्ल, सल्फ़र डाई आक्साइड आदि ऐसी ही गैसें हैं।

ऐमोनिया नामक गैस मोरियों के पास तथा जहाँ कुछ वस्तु सड़ती हों या मलमूत्र एकत्र हों वहाँ पाई जाती है।

इन वस्तुओं के अतिरिक्त रोगों के जीवाणु, विष्ठा के कण, बालों के टुकड़े, चर्म के अत्यन्त सूक्ष्म कण भी वायु में अशुद्धि के रूप में उपस्थित रहते हैं।

वायु-मंडल की शुद्धि—ये सब अशुद्धियाँ भिन्न भिन्न कारणों द्वारा, जिनको बताया जा चुका है, उत्पन्न होकर वायु में मिल जाती हैं जिससे वायु दूषित होती है। यदि यह अशुद्धियाँ एक ही स्थान पर एकत्र रहें तो वहाँ की वायु इतनी विषैली हो जायगी कि उसमें किसी भी प्रकार का जीवन न रह सकेगा। किन्तु प्रकृति ने ऐसा प्रबंध किया है कि वायु स्वयं ही सदा शुद्ध होती रहती है। शुद्धि के निम्न लिखित मुख्य साधन हैं :—

(१) **विसर्जन (Diffusion)**—गैसों के इस गुण का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है। जहाँ एक गैस वायु में अधिक मात्रा में उपस्थित होती है वह वहाँ से उस स्थान पर चली जाती है जहाँ उसकी मात्रा कम है। इस कारण वायु में जितनी भी गैस पाई जाती हैं उनकी मात्रा सदा लगभग एक समान रहती है।

(२) **तीव्र वायु या आँधी**—आँधी से वायु-मंडल स्वच्छ हो जाता है। धूल के कण, जीवाणु इत्यादि जो ठोस पदार्थ वायु-मंडल में

उपस्थित होते हैं वे आँधी के साथ उड़ जाते हैं। गैसों का भी प्रवाह हो जाता है और वायु-मंडल शुद्ध हो जाता है।

(३) वर्षा—वर्षा की बूँदें जिस समय धरती पर गिरती हैं तो वे वायु-मंडल में उपस्थित गैसों को सोख लेती हैं। इस प्रकार यदि ऊपर लिखित गैसों में से कोई वहाँ उपस्थित होती हैं तो वे नष्ट हो जाती हैं।

(४) वृक्ष—वृक्ष कार्बन-डाई-आक्साइड से कार्बन को ले लेते हैं और आक्सीजन को लौटा देते हैं। इस कार्बन से वे अपना भोजन-स्टार्च तैयार करते हैं जिसको हम लोग खाते हैं। यह कर्म वृक्षों की पत्तियों में उपस्थित क्लोरोफ़िल (Chlorophyll) द्वारा सूर्य-प्रकाश की उपस्थिति में होता है। रात्रि के समय नहीं होता। इस प्रकार वृक्ष कार्बन-डाई-आक्साइड की बहुत बड़ी मात्रा को सोख कर वायु मंडल को शुद्ध करते हैं।

(५) आक्सीजन—स्वयं बहुत से रोगों के जीवाणुओं को नष्ट कर देती है। ओज़ोन जो आक्सीजन का एक रूपान्तर है, सड़े गले पदार्थों को अथवा जीवाणुओं को नष्ट करने में बहुत प्रबल होता है। इससे भी वायु-मंडल शुद्ध होता है।

(६) सूर्य—रोगों के जीवाणुओं को नष्ट करने वाला है। जो जीवाणु अन्य प्रकार से नष्ट नहीं होते वे सूर्य-प्रकाश से आध घंटे में मर जाते हैं।

श्वास कर्म—जिस वायु का ऊपर वर्णन किया जा चुका है उसी के फुस्फुस या फेफड़ों के भीतर जाने और उनसे बाहर निकलने को श्वास कर्म कहते हैं। श्वास कर्म में वास्तव में दो क्रियायें होती हैं, वायु को भीतर लेना अथवा उछ्वास और वायु को बाहर निकालना, या प्रश्वास। दोनों क्रियाओं के बीच थोड़ा सा अन्तर रहता है।

जो वायु श्वास द्वारा भीतर जाती है वह वायु-मंडल की शुद्ध वायु होती है। जो वायु श्वास द्वारा बाहर निकलती है वह अशुद्ध होती है।

उसमें आक्सीजन कम होती है और कार्वन-डाई-आक्साइड अधिक होती है। निम्नलिखित अंकों से दोनों का अन्तर मालूम होगा :—

	श्वासद्वारा भीतर जाने वाली वायु	श्वासद्वारा वाहर निकलने वाली वायु
नाइट्रोजन	७६ · ०२	७६ · १६
आक्सीजन	२० · ६४	१६ · ४०
कार्वन डाई-आक्साइड	· ०४	४ · ४१
	१०० · ००	१०० · ००

अर्थात् वायु के प्रत्येक सौ भाग में ४·५४ भाग आक्सीजन भीतर रह जाती है और ४·३७ भाग कार्वन-डाई-आक्साइड वाहर निकलती है।

जो आक्सीजन भीतर रह जाती है उसका क्या काम है और जो कार्वन-डाई-आक्साइड वाहर निकलती है वह कहाँ से आती है ?

जो आक्सीजन भीतर रह जाती है उसको फेफड़ों में आया हुआ रक्त, जो अशुद्ध है, ले लेता है। रक्त में उपस्थित लाल कणों (Red Blood Corpuscles) का केवल यही काम है कि वे आक्सीजन को सोख लें। वास्तव में इन कणों के भीतर एक दूसरी वस्तु उपस्थित रहती है जिसको हीमोग्लोविन कहते हैं। यही वह वस्तु है जिसका कर्म आक्सीजन का ग्रहण करना है। यह एक प्रकार की लौह युक्त प्रोटीन होती है। जहाँ यह वायु के सम्पर्क में आती है तुरन्त उससे आक्सीजन ले लेती है और रक्त का रंग चमकता हुआ लाल हो जाता है। आक्सीजन को लेकर लाल कणों में उपस्थित हीमोग्लोविन रक्त के साथ शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचती है और जहाँ जहाँ आक्सीजन की आवश्यकता होती है दे देती है। आक्सीजन के पृथक् होने पर रक्त का रंग नीला सा हो जाता है।

अंगों में आक्सीजन की आवश्यकता प्रत्येक समय रहती है। वहाँ

टहलना, व्यायाम करना, खेलना स्वास्थ्य के लिये लाभदायक बताया गया है। वहाँ की शुद्ध वायु से शरीर को पर्याप्त आक्सीजन मिलती है जिससे शरीर की सब क्रियायें पूर्ण और उत्तम प्रकार से होती हैं। इससे रक्त शुद्ध होता है; रक्त का प्रवाह पूर्ण होता है; पाचक रस उत्तमता से बनते हैं जिससे भोजन का पाचन भली प्रकार होता है। उत्तम पाचन से भोजन का उत्तम रस बनता है और उससे शरीर पुष्ट होता है, बल आता है और शरीर की रोग-निवारण शक्ति बढ़ती है। रोग जल्दी नहीं होने पाते, इससे आयु बढ़ती है।

अशुद्ध वायु से उत्पन्न होने वाले रोग—अशुद्ध वायु से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। मैलेरिया शब्द का अर्थ ही दूषित वायु है। जब तक मैलेरिया का वास्तविक कारण नहीं मालूम था तब तक दूषित वायु ही को उसका कारण माना जाता था।

वायु के दोष अथवा अशुद्धियों को पहिले बताया जा चुका है। वायु की सब से बड़ी और सब से साधारण अशुद्धि कार्बन-डाई-आक्साइड है। जहाँ पर बहुत से व्यक्ति एक साथ रहते हैं अथवा एकत्र होते हैं, वहाँ पर इस गैस से उन व्यक्तियों के स्वास्थ्य के बिगड़ने का डर रहता है। सभा, सिनेमा इत्यादि में यदि वायु के प्रवाह का पूर्ण प्रबन्ध नहीं रहता तो वहाँ पर उपस्थित लोगों को बेचैनी प्रतीत होने लगती है। इसका कारण यह गैस और श्वास द्वारा निकले हुए जल वाष्प, ऐन्द्रिक पदार्थ तथा श्वास के द्वारा वहाँ की वायु के ताप का बढ़ जाना होता है। यदि यह दोष और अधिक बढ़ जाते हैं तो सिर-दर्द, चक्कर आना, जी मिचलाना, मूर्छा, वमन तथा अतिसार (Diarrhoea) तक उत्पन्न हो सकते हैं। वायु-मण्डल में कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा १·५ प्रतिशत हो जाने से यह लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ७·५ प्रतिशत होने पर उसमें किसी प्रकार का जीवन नहीं रह सकता।

जब छोटे छोटे कमरों में बहुत से व्यक्ति एक साथ रहते हैं और दरवाज़ों के किवाड़ भी बन्द कर लेते हैं जैसा कि प्रायः पहाड़ों में देखा

है। किन्तु हमारे देश में, जहाँ दरवाज़े और खिड़कियाँ सदा खोल कर रखी जा सकती हैं, यह समस्या बहुत कुछ सुलझ जाती है।
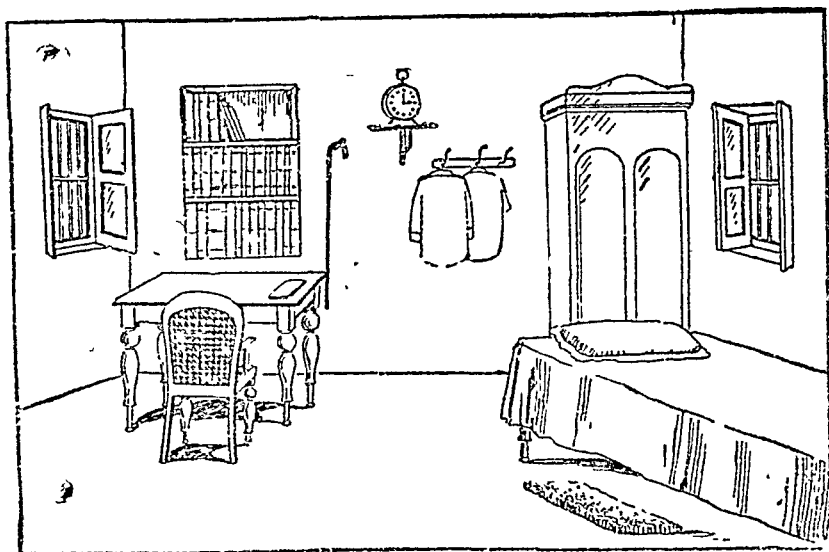
साफ़ कमरा — चित्र १

कमरों में वायु के प्रवेश तथा निकास के लिये जो प्रवन्ध किया जाता है उसको व्यजन अथवा Ventilation कहते हैं। इसके लिये जो प्रबन्ध हम मकानों में करते हैं वे सब वायु-मंडल में वायु के प्रवाह के ऊपर निर्भर करते हैं।

यह हिसाब लगाया गया है कि एक घंटे में प्रत्येक व्यक्ति को ३००० घन फ़ुट वायु मिलनी चाहिये। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिये २०×१५×१० फ़ुट का कमरा होना चाहिये। यदि एक कमरे में दो व्यक्ति रहें तो कमरा इससे दुगना होना चाहिये। मकानों में इस हिसाब से स्थान मिलना असंभव है। इस कारण १००० घन फ़ुट स्थान देकर वायु को घंटे में तीन बार बदल कर ३००० घन फ़ुट वायु

हैं और उनके ऊपर दीवार ही के भीतर एक चिमनी बना दी जाती है जो कमरे की छत से ऊपर जाकर खुलती है। शीत काल में अंगीठी में आग जला दी जाती है। इससे कमरे की वायु गरम होकर चिमनी द्वारा बाहर निकलती रहती है और बाहर की शुद्ध वायु भीतर आती रहती है।

अत्यन्त शीत प्रदेशों में जैसे नार्वे, स्वीडन या रूस, वहाँ दुहरी काँच की खिड़कियाँ बनाई जाती हैं और वायु के भीतर आने के लिये प्रवेश द्वार कमरे के फ़र्श के पास होते हैं। वहाँ से वायु एक ऐसे कमरे में जाती है जहाँ गरम जल के नल रहते हैं या अग्नि प्रज्वलित होती है। यहाँ पर वायु गरम होकर भिन्न भिन्न मार्गों द्वारा मकान के कमरों में उनके फ़र्श के पास से प्रवेश करती है।

हाथ से खींचने वाले तथा बिजली के पंखों के द्वारा भी वायु के प्रवेश-निकास का प्रबंध किया जाता है। सिनेमा, थियेटर, फ़ैक्टरी, लैबोरेटरी इत्यादि की दीवारों में बिजली के पंखे लगाये जाते हैं। ये पंखे या तो बाहर से वायु को भीतर भेजते हैं अथवा भीतर की वायु को बाहर निकालते हैं।

निकास द्वार छत के पास होने चाहिये। कमरे की गरम अशुद्ध वायु हलकी हो जाने के कारण ऊपर की ओर जाती है और छत के पास स्थित निकास द्वारों से निकल जाती है।

निकास द्वार बनाना बहुत आवश्यक है। जब तक कमरे के भीतर की वायु बाहर नहीं निकलेगी तब तक बाहर की वायु भीतर न आवेगी।

शुद्ध वायु का प्रबन्ध जितना गृह-निर्माण पर निर्भर करता है उससे भी अधिक नगर-निर्माण पर निर्भर है। यदि नगर ही इस प्रकार न बनाया जायेगा कि प्रत्येक मकान के आगे और पीछे दोनों ओर खुली सड़कें हों तब तक मकान में शुद्ध वायु नहीं आ सकती। साथ ही नगर के सामान्य

जा चुके हैं। बालक तथा बच्चों पर दूषित वायु का विशेष कर हानिकारक प्रभाव होता है। न केवल उनकी वृद्धि ही रुक जाती है, किन्तु वे राजयक्ष्मा, रिकेट्स इत्यादि रोग के ग्रास बन जाते हैं।

(३) वायु भीतरी अंगों को स्वच्छ और शुद्ध करती है। जिस प्रकार जल से स्नान करने से शरीर का बाहरी भाग स्वच्छ होता है उसी प्रकार वायु शरीर के भीतरी अंगों को स्वच्छ करती है।

(४) रोग के जीवाणु या कीड़ों के सब से प्रबल शत्रु वायु और सूर्य-प्रकाश हैं। इस कारण शुद्ध वायु और सूर्य-प्रकाश युक्त कमरों में रहना स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला होता है।

(५) स्वास्थ्य की अपेक्षा रोग की दशा में और भी अधिक वायु की आवश्यकता होती है। विशेष कर फेफड़ों के रोगों में जैसे राजयक्ष्मा, निमोनिया, इन्फ़्लुयेंजा आदि में रोगी को ऐसे कमरे में रखना चाहिये जिसमें वायु और प्रकाश पूर्णतया आते हों। ज्वर में भी रोगी को पूर्ण वायु युक्त स्थान में रखना चाहिये। वायु से रोगी को कभी हानि नहीं पहुँचती।

(६) रात्रि को सोते समय कमरे के सब वायु मार्गों को खोल कर रखना चाहिये। यदि शीत अधिक हो तो दरवाज़े बन्द कर सकते हैं। किन्तु खिड़की और रोशनदानों को कभी बन्द न करना चाहिये।

(७) बन्द कमरे में अंगीठी को सुलगाना अत्यन्त आपत्तिजनक है। सिलगी हुई अंगीठी को रखने पर भी कमरे की खिड़कियाँ खोल देनी चाहिये।

(८) जो लोग कमरे के दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द करके सोते हैं उनको ठंढ लग कर ज़ुकाम, इन्फ़्लुयेंजा आदि होने का अधिक डर रहता है। खुली वायु में सोने वालों को यह रोग बहुत कम होते हैं।

(९) मुँह ढक कर सोना स्वास्थ्य के लिये बहुत ही हानिकारक है। श्वास द्वारा निकली हुई वायु, जिसमें कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा

जल

हमारे जीवन के लिये शुद्ध जल और शुद्ध वायु अत्यन्त आवश्यक हैं। जल और वायु का स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब किसी व्यक्ति को किसी दूसरे स्थान पर रहने के लिये या वायु परिवर्त्तन के लिये जाना होता है तो वह इसी बात की पूँछ-ताछ करता है कि वहाँ का जल कैसा है, तथा वायु कैसी है। शिक्षित तथा अशिक्षित सबों को यह ज्ञान है कि उत्तम जल स्वास्थ्यप्रद तथा अशुद्ध जल रोग उत्पन्न करने वाला होता है। जल को उबाल कर पीने की पुरानी प्रथा है।

जल की शरीर को इस कारण अधिक आवश्यकता होती है कि शरीर में जल की बहुत अधिक मात्रा उपस्थित है। शरीर में २।३ भाग जल है। यदि किसी व्यक्ति का शरीर भार दो मन है तो उसके शरीर में १ मन १३½ सेर जल है। इस जल का सदा शरीर से त्याग होता रहता है। वह प्रत्येक क्षण श्वास के साथ वाष्प के रूप में निकलता है। ग्रीष्म काल में प्रत्येक व्यक्ति एक घंटे में लगभग १५ छटाँक जल श्वास के साथ बाहर निकाल देता है। यदि किसी शीशे को नाक के पास रख कर उस पर श्वास निकालें तो शीशे पर जल के कण एकत्र हो जायेंगे। शरीर के चर्म से भी जल सदा वाष्प बन कर उड़ा करता है। गरमी के दिनों में इस विधि से शरीर अपने को ठंडा रखता है। मूत्र और मल द्वारा भी जल की बहुत बड़ी मात्रा शरीर से निकलती है।

इस प्रकार शरीर से जल का सदा ह्रास होता रहता है। इस क्षति की पूर्ति करने के लिये हमको जल पीना पड़ता है। प्यास केवल इस बात का लक्षण है कि शरीर में जल की कमी है। अतएव प्यास लगने पर, चाहे वह स्वस्थ अवस्था में लगे अथवा रोग में, जल सदा पीना चाहिये। प्यास को मारना किसी भी दशा में हितकर नहीं है।

किन्तु हमको न रासायनिक शुद्ध जल की आवश्यकता ही है और न वह प्रकृति में मिलता ही है। उसमें सदा कुछ न कुछ मिला ही रहता है।

कैवेन्डिश—चित्र ३

वर्षा का जल बहुत कुछ रासायनिक जल के समान होता है। किन्तु वर्षा के समय में पृथ्वी तक आते आते उसमें कई प्रकार की गैस मिल जाती हैं। जल में दूसरी वस्तुओं को घोलने की बहुत शक्ति होती है।

स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि जो जल हम पियें वह शुद्ध हो, उसमें किसी प्रकार के ऐसे पदार्थ न हों जो रोग उत्पन्न कर सकें। शुद्ध जल पारदर्शी, रंग और स्वाद रहित होता है। उसमें किसी

प्रकार की गैस, धातु, ऐन्द्रिक पदार्थ (वानस्पतिक तथा पाशविक) और विशेष कर रोगों के जीवाणु नहीं होते।

वर्षा का जल अत्यन्त शुद्ध होता है, क्योंकि वह परिस्रवन (Distillation) की रीति से बनता है। प्रथम पृथ्वी पर से जल भाप बन कर उड़ जाता है। तब फिर वर्षा काल में वह जमकर जल के रूप में पृथ्वी पर लौटता है। यदि बीच ही में उसको ठंढ अधिक मिलती है तो वह जमकर ओले का रूप ले लेता है।

इस प्रकार जल तीनों रूपों में पाया जाता है; वाष्प या भाप के रूप में गैस, जल के रूप में तरल और बरफ़ के रूप में ठोस। जल १००° डिगरी सेन्टीग्रेड या २१२° डिगरी फ़ैरनहीट पर उबलने लगता है और भाप के रूप में परिणत हो जाता है। और 0° सेन्टीग्रेड या ३२° फ़ैरनहीट पर जम कर बर्फ़ बन जाता है। जो भाप जल से बनती है उसका आयतन जल की अपेक्षा १६००° गुणा अधिक होता है।

कितना जल आवश्यक है?—हम जल का प्रयोग अनेकों प्रकार से करते हैं। पीने के लिये तो जल आवश्यक है ही। जल से वस्त्र धोते हैं, स्नान करते हैं, बर्तन धोये जाते हैं। मकान का फ़र्श जल ही से धुलता है। घर तथा नगर की मोरियों और सड़कों को धोने के लिये जल चाहिये। पशुओं के लिये भी जल उतना ही आवश्यक है जितना हमारे लिये। अस्पतालों में, कालेज की प्रयोग शालाओं में, कारखानों में तथा स्कूलों में जल की बहुत आवश्यकता होती है।

जब म्यूनिसिपैलिटी की ओर से जल का प्रबन्ध किया जाता है तब इन सब बातों का ध्यान रखना होता है। इन सब प्रयोगों के लिये जनता को प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से जल दिया जाता है। निम्नलिखित स्थानों में उनके सामने लिखी हुई जल की मात्रा दी जाती है:—

कानपुर	२६ गैलन	बनारस	२६ गैलन
लखनऊ	१८ ,,	इलाहाबाद	२१.८४ ,,

बम्बई	४०	गैलन	कलकत्ता	३५	गैलन
लंदन	३५	”	ग्लासगो	५०	”

हमारे देश में कम से कम ३० गैलन जल प्रति व्यक्ति के हिसाब से मिलना चाहिये। गर्मी के दिनों में इससे दूनी मात्रा आवश्यक है।

जल कहाँ से लेना चाहिये

जो भी जल हमको पृथ्वी पर मिलता है उसका आदि कारण वास्तव में समुद्र है। वहाँ से सदा जल वाष्प बन कर उड़ता है और आकाश में भाप के रूप में एकत्र होता रहता है। यही भाप उचित समय पर ठण्ड पाकर जमकर जल बन जाती है और वर्षा के रूप में फिर पृथ्वी पर आती है। यह वर्षा का जल पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों के द्वारा सोखा जाकर भूमि के भीतर चला जाता है और जहाँ उसको ऐसा भाग मिलता है जिसके द्वारा जल नहीं सोखा जा सकता, जैसे पत्थर की चट्टानें इत्यादि, वहाँ पर एकत्र हो जाता है। और वहाँ से बहता हुआ दूरी पर पहुँच कर जहाँ भूमि का यह भाग समाप्त हो जाता है भूमि से निकल कर स्रोत के रूप में बहने लगता है। कुओं में इसी प्रकार जल आता है। नदियाँ भी इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं।

हमको पीने का जल साधारणतया निम्न लिखित स्थानों से मिलता है :—

(१) वर्षा का जल
(२) स्रोत का जल
(३) नदियों ”
(४) कुएँ ”
(५) तालाब ”

सब से अधिक कुओं ही का उपयोग किया जाता है।

वर्षा का जल—वर्षा का जल अत्यन्त स्वादिष्ट और हितकर होता है। जैसे पहिले कहा जा चुका है, यह बहुत शुद्ध जल है। और जिनकी पाचन शक्ति कमज़ोर है उनके लिये इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

प्रथम दो चार वर्षाओं का जल नहीं पीना चाहिये। आकाश में जो दोष उपस्थित होते हैं वह पहिली वर्षाओं द्वारा दूर हो जाते हैं। उसके पश्चात् जो जल वर्षा द्वारा पृथ्वी पर आता है वह शुद्ध होता है। अतएव उसको एकत्र करके पीने के लिये काम में लाया जा सकता है)

जल को एकत्र करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि वर्षा का जल किसी गन्दे स्थान पर से न लिया जाय। सब से उत्तम यह है कि खुले हुए स्थान में चार बाँस गाड़ कर उनमें एक धुली हुई चादर के चारों कोने बाँध दिये जायँ, और उसके नीचे बीच में एक बर्तन रख दिया जाय जिसमें जल भरता रहे। यह जल बहुत समय तक रखा जा सकता है; जल्दी नहीं बिगड़ता।

हमारे देश के कई भागों में, विशेषकर राजपूताने में, वर्षा का जल बड़े बड़े गहरे कुंडों में एकत्र कर लिया जाता है और पीने के लिये प्रयोग किया जाता है। किन्तु साधारणतया प्रयोग के लिये वर्षा के जल पर निर्भर नहीं किया जा सकता। क्योंकि हमारे देश में वर्षा केवल दो या तीन मास होती है। वह भी कभी कम हुई कभी अधिक। इंगलैंड आदि देशों में जहाँ वर्षा सदैव हुआ करती है, वर्षा के जल पर अधिक विश्वास किया जा सकता है।

वर्षा का जल अत्यन्त मृदु (Soft) होता है। उसमें तनिक भी कठोरता (Hardness) नहीं होती। इसी कारण वह पीने, खाना पकाने इत्यादि कामों के लिये बहुत उपयुक्त होता है।

वर्षा के दिनों में नदी और तालाबों का जल गन्दा हो जाता है। वर्षा के वेग से भूमि की सब गन्दगी नालों में होती हुई नदियों या तालाबों में पहुँच जाती है जिससे उनका जल पीने योग्य नहीं रहता। रोगों के जीवाणु भी जल में पहुँच जाते हैं।

स्रोत (Springs)—पर्वतों में जल मिलने का केवल यही साधन होता है। जो लोग पर्वतों में घूमे हैं उन्होंने अनेक स्थानों पर पर्वत से

जल निकलते हुये देखा होगा। यह वही जल है जो वर्षा के समय भूमि पर गिर कर उसके ऊपरी प्रवेश्य (Permeable) भाग में होता हुआ भूमि के भीतर सोख गया था और नीचे के किसी अप्रवेश्य (Impermeable) भाग पर पहुँच कर एकत्र हो गया था। उसी अप्रवेश्य भाग पर बहता हुआ वह जल उस स्थान पर पहुँच कर, जहाँ अप्रवेश्य भाग भूमि के ऊपरी पृष्ठ पर आकर समाप्त हो जाता है, स्रोत के रूप में निकलने लगता है।
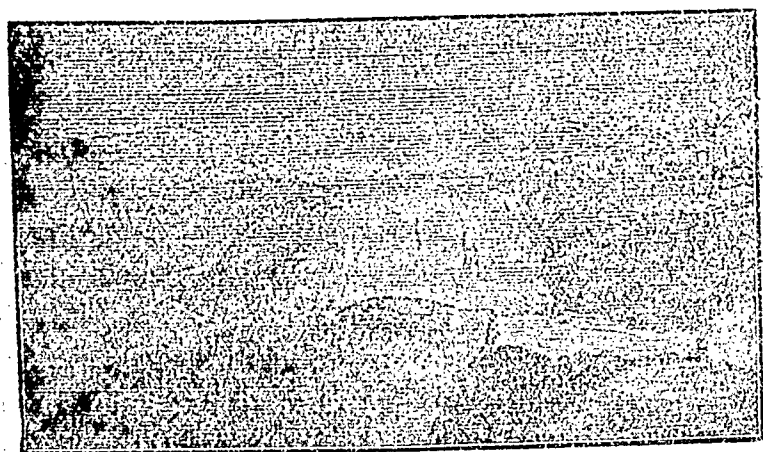
स्रोत—चित्र ४

यह स्रोत कभी कभी बहुत दूरी से आते हैं। और गहराई पर स्थित होने के कारण इन पर भार अधिक रहता है जिससे जल का ताप भी बढ़ जाता है। इस कारण इनके जल में घोलने की शक्ति बहुत होती है। अतएव भूमि की बहुत सी कार्बन-डाई-आक्साइड इनके जल में घुल जाती है। साथ में भूमि में उपस्थित खनिज जैसे चूना, मेगनेशियम तथा अन्य पदार्थ भी जल में मिल जाते हैं। कई स्थानों पर गन्धक के स्रोत मिलते हैं जिनके जल में गन्धक की गन्ध होती है। जिस भूमि पर होकर इनका

प्रधान देश होने के कारण नदियों से खेती के लिये जल मिलता है। हमारे देश के प्रत्येक प्रान्त में आबपाशी (Irrigation) का महकमा ही पृथक् है जिसका काम नदियों से नहरों का निकालना और उनके द्वारा खेती के लिये खेतों में जल पहुँचाना है।

नदी का जल स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर नहीं समझा जाता। लोग नदियों में स्नान करते हैं, शरीर मलते हैं, कुल्ला करते हैं, जानवरों को नहलाते हैं। बहुत से लोग प्रातः काल नदी के किनारे शौच से निवृत हो कर नदी ही में अपने को स्वच्छ करते हैं। बहुत से नगरों में नगर का मैला भी नदी में गिरता है। फिर नदी के किनारे जो खेत होते हैं उनमें से, विशेष कर वर्षा ऋतु में जल बहकर नदी में मिलता है और खेत की बहुत सी खाद को बहाकर नदी में ले जाता है। इससे नदी का जल गन्दा हो जाता है। खाद में, जो रोगों के सहस्रों कीड़े रहते हैं, वे सब नदी के जल में पहुँच जाते हैं।

नदियों के जल में बहुत बार हैजे के जीवाणु पाये जाते हैं जिससे सहस्रों व्यक्ति रोग का ग्रास बनते हैं। सन् १९३८ में कुंभ मेले में हरिद्वार में यही हुआ था और प्रायः होता रहता है।

नदियों के जल में रोग के जीवाणु पास में रहने वाले व्यक्तियों ही द्वारा पहुँचाये जाते हैं। उनमें से किसी को हैजा हो जाता है। उसके साथी उस रोगी के मल को तथा मलयुक्त वस्त्रों को वहाँ ही नदी में फेंक देते हैं। रोग के जीवाणु नदी के जल में मिल जाते हैं। उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। जो लोग उस जल को पीते हैं उनको रोग हो जाता है। इस प्रकार स्वयं हम अपनी गन्दी आदतों से नदियों के जल को गन्दा करते हैं। नदियों के तट पर मुर्दों को जलाने से भी जल गन्दा होता है।

यदि नदी का जल पीने के काम में लाया जाय तो जल लेने के लिये एक विशेष स्थान नियत कर देना चाहिये। यह स्थान नगर से कुछ

भाग पर एकत्र हो गया है। इस जल का सदा उस ओर को प्रवाह होता रहता है जिधर को अप्रवेश्य भाग का ढलान होता है। यही जल कुआँ खोदने पर उसमें निकलता है। भूमि के अप्रवेश्य भाग के नीचे भी जल एकत्र रहता है। भूमि की बनावट ऐसी है कि उसमें कई प्रवेश्य तथा अप्रवेश्य स्तर होते हैं और उनके बीच में जहाँ तहाँ जल एकत्र पाया जाता है।

उथले कुएँ वह होते हैं जिनकी गहराई लगभग २० फ़ीट होती है। इनमें वह जल आता है जो भूमि के अप्रवेश्य भाग के ऊपर स्थित है। यह केवल भूमि के प्रवेश्य भाग में खोदे जाते हैं। इस कारण इनमें भूमि पर कुएँ के चारों ओर गिरा हुआ जल भी पहुँच जाता है। कभी कभी यह जल भूमि के बहुत थोड़े भाग द्वारा छन कर पहुँचता है। और इस कारण दोषों से मुक्त नहीं होता। जितनी दूरी तक भूमि में जल छनेगा उतनी ही उसमें सम्मिलित अशुद्धियाँ दूर हो जायेंगी। किन्तु केवल कुछ फुट तक ही छनने से वह शुद्ध न होगा। इस कारण उथले कुओं के जल को शुद्ध नहीं माना जाता। कच्चे कुएँ का जल तो और भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। यदि इस कुएँ की दीवारों पर ईंट और चूने से चुनाई कर दी जाय तो वह पक्का कुआँ कहलायेगा।

गहरे कुएँ—सौ फुट से अधिक गहरे होते हैं। इनको भूमि के अप्रवेश्य भाग में होकर खोदा जाता है और उनमें वह जल निकलता है जो अप्रवेश्य भाग के नीचे स्थित होता है। यह जल भूमि में बहुत दूर तक छन कर गया है। और इस कारण उसकी सारी अशुद्धियाँ दूर हो गई हैं। भूमि एक छन्ने की भाँति काम करती है। इस कारण गहरे कुएँ में जो जल निकलता है उसको शुद्ध माना जाता है। भूमि-पृष्ठ की अशुद्धियाँ भी इस जल में नहीं पहुँच पातीं। क्योंकि भूमि पर का जल वहाँ तक नहीं पहुँच सकता।

किन्तु कभी कभी गहरे कुओं का जल 'कठोर' (Hard) होता है, जिसका कारण मेगनेशियम या कैलशियम के लवण होते हैं। इस कारण

दूर हो जाती है। उसका कारण चूने के कार्बोनेट लवण होते हैं। उबालने से कार्बन-डाई-आक्साइड निकल जाती है और चूना या मैगनेशिया जो जल में घुले होते हैं नीचे बैठ जाते हैं। जल मृदु हो जाता है।

स्थायी कठोरता चूने या मैगनेशियम के सल्फ़ेट लवणों के कारण होती है। वह उबालने से दूर नहीं होती। उसको दूर करने के लिये कास्टिक सोडा या सोडियम कार्बोनेट को जल में मिलाना पड़ता है।

उत्तम कुआँ—जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि उथले कुएँ की अपेक्षा गहरे कुएँ का जल अधिक विश्वासनीय है। किन्तु कुएँ की स्वच्छता, उसकी बनावट, चारों ओर की भूमि, जल को कुएँ से खींचने तथा देने के प्रबन्ध आदि पर कुएँ के जल की शुद्धता बहुत कुछ निर्भर करती है। इनमें त्रुटि होने से गहरे कुएँ का जल भी दूषित हो सकता है। इस कारण कुएँ के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) कुआँ उत्तम भूमि में बनाना चाहिये जो ऊँची हो, जिसमें गढ़े इत्यादि न हों, और जो अप्रवेश्य हो।

(२) कुआँ पक्का होना चाहिये। भीतर की ओर उसकी दीवारों पर ईटों का मोटा स्तर सीमेन्ट से लगाया जाय और उसको सीमेन्ट के मोटे अस्तर से ढक दिया जाय। ईटों के जोड़ों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ईटों के बाहर की ओर पीली या चिकनी मिट्टी का एक मोटा स्तर होना चाहिये।

(३) कुएँ के मुँह के किनारे भूमि से तीन या चार फुट ऊँचे हों, और उनके चारों ओर ढलवाँ प्लेटफ़ार्म हो, जिसके चारों ओर किनारों पर एक पक्की नाली बनी हो। यह मोरी कुएँ से पर्याप्त दूरी पर समाप्त होनी चाहिये। इस प्लेटफ़ार्म पर जो कुछ भी गिरेगा वह सब मोरी में बह जायगा। कुएँ के भीतर कोई वस्तु न जा सकेगी।

(४) कुएँ का मुँह एक ढक्कन से बन्द होना चाहिये। जल खींचने के लिये उसमें एक खुला हुआ स्थान रहे जिस पर एक लोहे का छोटा

सा किवाड़ लगा रहे। जल खींचने के पश्चात् इस किवाड़ को बन्द कर देना चाहिये।

(५) प्रायः कुओं से जल खींचने के लिये लोग अपनी अपनी रस्सी तथा बालटी या घड़ा लाते हैं और उनको कुएँ के भीतर डालते हैं। यदि एक वर्त्तन भी दोष युक्त हुआ तो कुएँ का सारा जल दूषित हो जाता है और सैकड़ों व्यक्तियों के रोगी होने की संभावना होती है। इस कारण प्रत्येक कुएँ के मुँह पर लोहे के दो खंभे लगा कर उनमें जंजीर के साथ एक बाल्टी लटका देनी चाहिये। जिसको जल लेना हो वह इसी बाल्टी से जल निकाले। यदि जल निकाल कर देने के लिये एक व्यक्ति तैनात किया जा सके तो और भी उत्तम है।
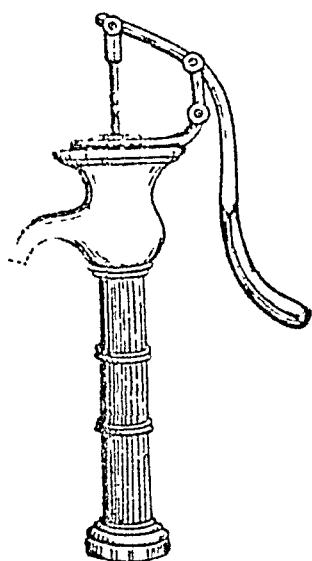
कुएँ के मुँह को बिल्कुल बन्द कर के उसमें एक पम्प लगा देना और भी उत्तम है। यह पम्प कुएँ के मुँह से कुछ दूरी पर हो। जल लेने वाले इसी पम्प से जल लें। इससे कुएँ के दूषित होने की तनिक भी संभावना नहीं रहती।

वाटर पम्प—चित्र ६

(६) कुएँ के आस पास कोई गढ़े न होने चाहिये। यदि गढ़े हों तो उनको भरवा देना आवश्यक है।

(७) कुएँ के पास शौच करने या शौचस्थान बनाने, बर्त्तन माँजने, वस्त्र धोने या पशुओं को नहलाने का कड़ा निषेध होना चाहिये।

(८) कुएँ के पास वृक्ष भी न होने चाहिये। वृक्षों की पत्तियाँ कुएँ में गिर कर सड़ती हैं और जल को गन्दा करती हैं।

तालाब की मछलियाँ अशुद्ध वस्तुओं का नाश करती हैं। साथ में सूर्य-प्रकाश और वायु भी शुद्धि में कुछ सहायता देते हैं। किन्तु यह क्रिया केवल जल की सतह तक परिमित रहती है। तालाब के किनारे का जल अधिक गन्दा होता है। वहाँ पर जल उथला होता है सरकंडे, उग आते हैं तथा काई जमा हो जाती है और मार्शगैस, अमोनिया इत्यादि हानिकारक गैसें बनने लगती हैं।

तालावों को जिस प्रकार प्रयोग किया जाता है उसको केवल देखने से ही उसके जल से घृणा उत्पन्न हो जाती है। उसमें स्नान किया जाता है, वस्त्र धोये जाते हैं; दातुन करके तथा मुँह धोकर उसी में कुल्ला किया जाता है, पशुओं को पानी पिलाया तथा नहलाया जाता है। घर के भोजन बनाने के तथा जूठे बर्तन उसी में माँजे और धोये जाते हैं। इन सब कामों से वहाँ के जल की जो दशा होगी वह समझी जा सकती है।

तालावों से बहुत बार हैजा फैल चुका है। कुएँ तथा नदियों से भी रोग इसी प्रकार फैल सकता है। इस रोग के रोगियों के मल में रोग के जीवाणु बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं। रोगी के संबंधी रोगी के वस्त्रों को, जिसमें उसने मल त्याग किया है, तालाब में धोते हैं; अथवा अन्य बर्त्तन जो उस रोगी के सम्पर्क में आये हैं वहाँ के जल में डाल देते हैं। इस प्रकार जीवाणु तालाब या कुएँ या नदी के जल में पहुँच जाते है। वहाँ उनकी संख्या में वृद्धि होती है। जो स्वस्थ व्यक्ति वहाँ का जल पीते हैं ये जीवाणु. उनकी अंतड़ियों में पहुँच कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति के कुकर्म से सैकड़ों व्यक्ति अपने जीवन से हाथ धोते हैं।

बंगाल में प्रायः प्रत्येक घर के सामने एक छोटा सा तालाब होता है जिसमें वहाँ रहने वालों के सब कृत्य होते हैं। तालाब से उनको खाने के लिये मछली भी मिलती है।

तालाब किस प्रकार के होने चाहिये—जिस तालाब से पीने के लिये जल लिया जाय उसमें स्नान तथा अन्य कृत्य करने की बिल्कुल

यदि इन सब नियमों का पालन किया जा सके तो तालाब से पीने के लिये उत्तम जल मिल सकता है। यद्यपि इन नियमों का पालन करना कठिन प्रतीत होता है, किन्तु एक बार जनता में स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार करने पर और उनके महत्त्व को समझा देने पर ये सब सरल प्रतीत होने लगेंगे और जब जनता को इनके लाभ का प्रमाण मिलेगा तो वह नियमों का स्वयं ही पालन करेगी। प्रारंभ में यदि सब नियमों का पालन न हो सके तो जितनों का भी पालन किया जा सके करना चाहिये। उससे भी जल की गन्दगी कुछ न कुछ कम अवश्य होगी और जनता रोगों से मुक्त रहेगी।

ऊपर जो जो स्थान लिखे गये हैं प्रायः उन्हीं से पीने के लिये जल लिया जाता है। पहाड़ों पर बरफ़ को जमा कर लेने की भी रीति है। बड़े बड़े गहरे कुण्ड खोद दिये जाते हैं। जब बरफ़ गिरता है तो ये कुण्ड बरफ़ से भर जाते हैं। वर्षा के पश्चात् जब जल की कमी होती है तो इन्हीं कुण्डों में से बरफ़ निकाल कर उसका जल बना कर प्रयोग किया जाता है।

जल के संग्रह तथा वितरण करने की रीति—जिन स्थानों का ऊपर वर्णन किया गया है वहाँ से जल प्रयोग के लिये घर पर लाया जाता है और वहाँ पर बर्त्तनों, हौदियों या धातु की टंकियों में उसको संग्रह कर लिया जाता है। जल को शुद्ध रखने के लिये इन सब बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

कहीं कहीं पर मशक से जल भर कर लाया जाता है। यह मशक चमड़े की बनी होती हैं। इसका मुँह बहुत छोटा होता है। सक़्के लोग इनमें जल भर कर इनको पीठ पर लाद कर ले जाते हैं।

इनका जल कभी भी पीने के लिये प्रयोग न करना चाहिये। इनको स्वच्छ करना असंभव है। एक बार बनने के पश्चात् इनको खोला नहीं जा सकता। तमाम गन्दगी भीतर ही एकत्र होती रहती है। अतएव

नगर में किसी ऊँचे स्थान में रखी जाती है जहाँ से जल स्वयं ही नलों में बहता हुआ मकानों तक पहुँच जाता है। टंकी का आकार इतना बड़ा होता है कि उसमें नगर के कई दिनों के प्रयोग के लिये जल भरा जा सके। जहाँ जल आसानी से मिल सकता है वहाँ टंकी का आकार छोटा भी रखा जा सकता है। कलकत्ते मे जो जल की टंकी है उसमें केवल आठ घंटे के लिये पर्याप्त जल आता है। उसका क्षेत्रफल ३२० वर्गफ़ुट है, वह १६ फ़ुट गहरा है और उसमें ५३००० टन जल आता है।

जल किस प्रकार अशुद्ध होता है तथा उसको रोकने के उपाय—ऊपर के वर्णन से यह भली भाँति स्पष्ट है कि जल किस प्रकार अशुद्ध होता है। जल की अशुद्धि का सबसे बड़ा कारण वहाँ के निवासियों की गन्दी आदतें हैं। जनता के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है (Civic Responsibility) इसका सामान्य नगरनिवासी को तनिक भी ध्यान नहीं होता। नगर की स्वच्छता, जल की शुद्धि तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी दूसरे आयोजन तभी सफल हो सकते हैं जब सब लोग उसमें सहायता दें। म्यूनिसिपैलिटी या सरकार बिना जनता की सहायता के किसी भी आयोजना को सफल नहीं बना सकती।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार एक व्यक्ति की असावधानता से सारे कुएँ का जल गन्दा हो जाता है; और एक हैज़े के रोगी से सहस्रों को हैज़ा होता है। जहाँ से पीने के लिये जल लिया जाता हो, चाहे वह नदी, कुआँ, तालाब, स्रोत इत्यादि कुछ भी हो, वहीं पर नहाना, शरीर को मलना, वस्त्र धोना, बर्त्तन माँजना, पशुओं को जल पिलाना तथा स्नान करवाना ऐसे कर्म हैं जिनसे जल अवश्य ही दूषित हो जाता है। किसी भी दिन प्रातःकाल नदी के किनारे घाटों पर जाकर देखा जा सकता है कि जल में स्नान करने वाले वहीं पर थूकते तथा कुल्ला करते हैं। जल ही में मूत्र त्याग तक करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की जहाँ तक निन्दा की जाय कम है।

जनता की गन्दी आदतों के अतिरिक्त जिन स्वाभाविक दोषों से जल दूषित हो सकता है, उनका कुएँ, नदी, तालाब आदि के सम्बन्ध में वर्णन किया जा चुका है।

नदियों में नगर के मैले के गिरने से उनका जल दूषित हो जाता है। इस कारण जहाँ ऐसा करना ही पड़े वहाँ मैला नगर से कम से कम एक मील नीचे की ओर गिराया जाय। और पीने के लिये जल नगर के ऊपर की ओर से लिया जाय। इससे पीने के जल में किसी प्रकार का दोष न पहुँच पायेगा।

नदियों में बहुधा अधजले मुर्दों को फेक देते हैं। इससे जल दूषित होता है। मुर्दों को नदी के किनारे के पास गाड़ने से भी नदी के जल में दोष आता है। कुओं के पास भी मुर्दों को गाड़ना उचित नहीं है।।

कुएँ या तालाब के किनारे बैठकर दातुन करना, मुँह धोना तथा स्नान करना वर्जित होना चाहिये। कुएँ के आस पास की भूमि में जो भी गढ़े या गन्दे स्थान दिखाई दें उनको भर देना चाहिये।

यह स्मरण रखना उचित है कि जल को केवल किसी वस्त्र द्वारा छान लेना पर्याप्त नहीं है। छानने से केवल मिट्टी, धूल आदि मोटी मोटी अशुद्धियाँ दूर हो जायँगी। किन्तु ऐसी अशुद्धियाँ जिनको हम देख भी नहीं सकते दूर नहीं होंगी। रोगों के जीवाणु पहिले ही की भाँति उपस्थित रहेंगे। इस कारण संदिग्ध जल को पीने के पहिले भली भाँति शुद्ध कर लेना चाहिये। शुद्ध करने का सब से उत्तम उपाय उबालना है। यदि उबाला न जा सके तो उसमें पोटासियम परमैंगनेट मिला लेना चाहिये।

अशुद्ध जल का स्वास्थ्य पर प्रभाव—जिस प्रकार अशुद्ध वायु से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और अनेकों रोग हो जाते हैं, उसी प्रकार अशुद्ध जल से भी रोग उत्पन्न होते हैं: और कभी कभी इतने भयंकर होते हैं कि वह थोड़े ही समय में प्राणान्त कर देते हैं। मोतीभरा (Typhoid) पेचिश (Dysentry) पतले दस्त आदि सब जल ही से

फैलते हैं। जब भी नगरों में हैज़ा फैलता है तो इस रोग के जीवाणु सदा जल ही के द्वारा व्यक्तियों के शरीर में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं। बहुत से पराश्रयी (Parasites) जल के ही द्वारा शरीर में पहुँचते हैं। जिस जल में धातुओं के लवण, जैसे चूना, मैगनेशियम आदि. जिनसे जल कठोर हो जाता है, अधिक होते हैं उसके प्रयोग से मन्दाग्नि, अरुचि, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि दूषित जल स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाला होता है, किन्तु पूर्णतया रासायनिक शुद्ध जल भी स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है। वायु रहित होने के कारण वह स्वादिष्ट नहीं होता। स्वास्थ्य के लिये वही जल हितकर है जो रंग, गन्ध, और स्वाद से रहित हो, जो स्वच्छ और पारदर्शी हो, जिसमें घन (Solids) पदार्थों की अधिकता न हो और जो वायु युक्त हो।

जल की शुद्धि

जल की शुद्धि तीन प्रकार से की जाती है—

(१) भौतिक क्रियाओं द्वारा (Physical)

(२) रासायनिक क्रियाओं द्वारा (Chemical) और

(३) यांत्रिक साधनाओं द्वारा (Mechanical)

प्रकृति किस प्रकार जल की शुद्धि करती है वह पहिले ही नदियों के सम्बन्ध में बताया जा चुका है। पहाड़ी नदियों में विशेष कर यह क्रिया अधिक होती है। उनमें जल का प्रवाह तीव्र होता है और वह चट्टानों और पत्थरों से टकराता हुआ चलता है।

(१) भौतिक क्रियायें—जिनके द्वारा जल शुद्ध किया जाता है दो हैं :—

(अ) स्रवन (Distillation)—इस क्रिया में प्रथम जल को उबाल कर भाप बनाया जाता है और फिर भाप को जमा कर जल के रूप में

परिणत कर दिया जाता है। यह वही क्रिया है जिससे प्रकृति हमको वर्षा के रूप में शुद्ध जल देती है।

इसके लिये एक विशेष यन्त्र की आवश्यकता है। किन्तु उसकी बनावट बहुत ही साधारण है। जैसे चित्र में दिखाया है एक चौड़े मुँह के बर्त्तन के ऊपर से एक पतली नली निकल रही है। बर्त्तन के नीचे आग जल रही है जिससे बर्त्तन में भरा हुआ जल उबलता है। बर्त्तन के ऊपर से निकलने वाली नली एक चौड़े नले के भीतर होकर जाती है। इस नले में नीचे से नल का ठण्ढा जल आता है और ऊपर से निकल
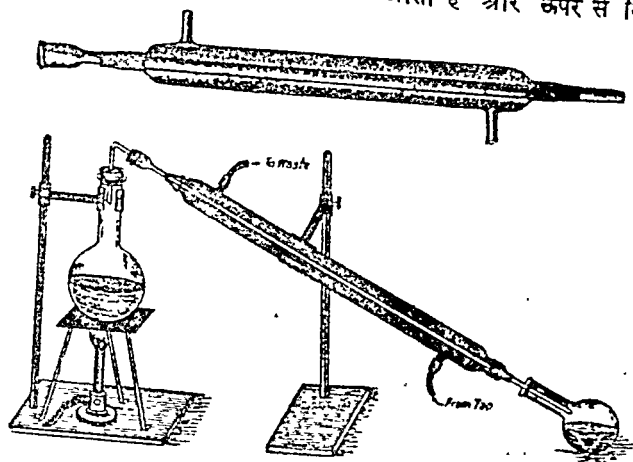
परिस्रावक यन्त्र—चित्र ७

जाता है। इस प्रकार इसमें सदा ठण्ढे जल का प्रवाह होता रहता है। बर्त्तन से जो नली इसके भीतर होकर आती है वह नीचे की ओर को जाकर एक दूसरे बर्त्तन में समाप्त हो जाती है। बर्त्तन में जल के उबलने से जो भाप बनता है वह पतली नली में आती है। जब वह उस भाग में पहुँचती है जिसके चारों ओर ठण्ढा जल प्रवाह कर रहा है तो वह जम जाती है और उसके दूसरे सिरे से स्रवित जल निकलने लगता है।

साधारणतया इस विधि को काम में नहीं लाया जाता। जहाज़ पर आवश्यकता पड़ने पर समुद्र का जल लेकर उसको इस विधि से शुद्ध करते हैं।

(ब) उबालना—यह सब से उत्तम रीति है। रोगों के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। जल में जो चूने के लवण मिले रहते हैं वह भी जल से पृथक् होकर नीचे बैठ जाते हैं। यदि जल में कुछ विषैली गैसें मिली रहती हैं तो वह भी जल के उबलने से निकल जाती हैं। इस प्रकार उबालने से जल पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। किन्तु जल में से वायु भी निकल जाती है जिससे जल स्वादिष्ट नहीं रहता। जल को फिर से स्वादिष्ट करने के लिये उसमें वायु मिला देनी चाहिये। जल को दो बर्त्तनों में लेकर उसको कई बार एक से दूसरे में उंडेलने से, जैसा कि दूध को ठण्डा करते समय किया जाता है, जल वायु-युक्त और स्वादिष्ट हो जाता है।

यदि किसी अपरिचित स्थान पर जाना पड़े और वहाँ का जल संदिग्ध प्रतीत हो तो उसको सदा उबाल कर पीना उचित है।

(२) रासायनिक क्रियायें—इस विधि मे रासायनिक वस्तुओं, जैसे पोटासियम परमैंगनेट, का प्रयोग किया जाता है। इनमें से कुछ ऐसी वस्तु हैं जिनसे जल में मिश्रित मिट्टी, कीच तथा अन्य अशुद्धि नीचे बैठ जाती हैं। किन्तु रोगों के जीवाणुओं का नाश नहीं होता। कुछ वस्तुयें केवल जीवाणुओं का नाश करती हैं। पहली प्रकार की वस्तुओं से जल स्वच्छ तो हो जाता है किन्तु पीने के लिये उपयुक्त नहीं होता है। निम्न-लिखित वस्तुये इसी प्रकार की हैं :—

चूना (Lime)—इसका प्रयोग विशेष कर जल की कठोरता को दूर करने के लिये किया जाता है। प्रथम कठोरता की मात्रा मालूम की जाती है। तत्पश्चात् उसी हिसाब से जल में चूना मिलाया जाता है। साधारणतया एक डिग्री कठोरता दूर करने के लिये १०० गैलन जल में एक औंस चूना मिलाना पर्याप्त है।

फिटकरी—एक गैलन जल में २½ रत्ती (५ ग्रेन) फिटकरी मिलाई जाती है। इससे जल में तलछट सी बन कर बर्त्तन की तली में बैठ जाती है। यदि फिटकरी के पश्चात् तनिक सा चूना मिला दिया जाय तो जल बहुत ही स्वच्छ हो जायगा।

निर्मली—यह एक वृक्ष का फल है। इससे गंदला जल स्वच्छ हो जाता है। जिस बर्त्तन में जल को स्वच्छ करना हो उसमें भीतर की ओर एक फल को भली भाँति रगड़ देते हैं और उसमें जल भर देते हैं। थोड़े समय में जल की सारी गाद नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ हो जाता है। यदि इस जल को उबाल लिया जाय तो वह पीने के लिये संतोषजनक हो जाता है।

निम्नलिखित वस्तुयें जीवाणु नाशक होती हैं :—

पोटास-परमैंगनेट—यह गाढ़े बैंगनी रंग की वस्तु होती है। इसके छोटे छोटे लम्बे सुई के आकार के कण होते हैं। हैज़े के दिनों में इसी को कुओं में डाला जाता है। इससे विशेष कर हैज़े के जीवाणु शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। छोटे कुएँ में एक या दो औंस और बड़े में ४ या ६ औंस तक परमैंगनेट डाला जाता है। परमैंगनेट को जल में घोल कर एक डोल में भर दिया जाता है और उसको कुएँ में लटका कर तीन या चार बार ऊपर नीचे खींचा जाता है।

जहाँ पर जल संदिग्ध हो वहाँ इसको जल में मिला कर पीना चाहिये। जल में परमैंगनेट केवल इतना मिलाया जाय कि जल का रंग हलका गुलाबी हो जाय।

तूतिया (कोपर सल्फ़ेट)—जल में उगे हुये पतले पतले वृक्ष-ऐल्गी इत्यादि—को दूर करने और तालाब या कुएँ के जल को स्वच्छ करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

आयोडीन—आयोडाइड-आयोडेट-आफ़-सोडा नामक औषधि की २ ग्रेन की टिकियाँ बाज़ार में बिकती हैं। प्रत्येक टिकिया को २ ग्रेन

साइट्रिक एसिड के साथ मिला कर चार गैलन (१८ सेर) जल में मिला दिया जाता है। इस से शुद्ध आयोडीन निकल कर जल को शुद्ध कर देती है।

ओज़ोन और अल्ट्रावायोलेट किरणें—युद्ध के समय इनके द्वारा जल शुद्ध किया गया था, जहाँ दूसरे साधन उपस्थित नहीं थे। इन किरणों को उत्पन्न करने के लिये विशेष यन्त्र बनाये जाते हैं।

(३) यांत्रिक साधनों द्वारा जल की शुद्धि—आज कल घर में प्रयोग के लिये तथा जनता में वितरण के लिये जल की शुद्ध यांत्रिक साधनों ही द्वारा की जाती है। इनको निस्पन्दक या Filters कहते हैं।

यह यन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक घर के लिये और दूसरे जनता के लिये काम में आते हैं। पहली प्रकार के छोटे छोटे यन्त्र होते हैं जिनके
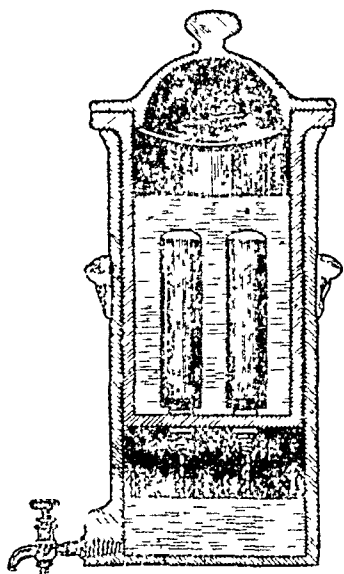
पैस्चौर चैम्बलैंन्ड निस्पन्दक की भीतरी रचना
चित्र ८
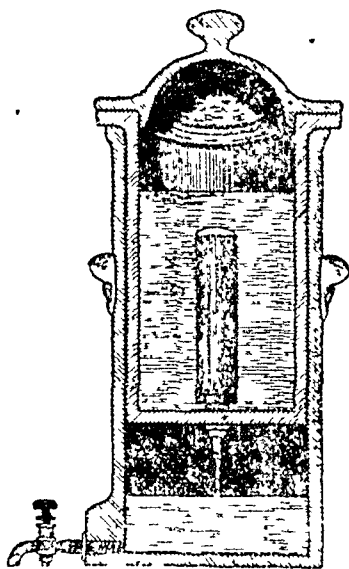
बर्कफ़ील्ड निस्पन्दक
चित्र ९

द्वारा घर में पीने का पानी शुद्ध किया जाता है। पैस्च्योर-चैम्बलैंन्ड बर्कफील्ड आदि फ़िल्टर इस प्रकार के हैं। चित्र में पैस्च्योर चैम्बलैंन्ड फ़िल्टर दिखाया गया है। यह क्ले और पोर्सलेन नामक मिट्टी का बना होता है। जैसा चित्र नं० ८ में दिखाया गया है—सब से बाहर की ओर एक पोर्सलेन का बना हुआ बर्त्तन है जिसमें एक ओर एक नल लगा हुआ है। उसके भीतर की ओर दूसरा बर्त्तन ऊपर से लटक रहा है। इसकी तली में क्ले नामक मिट्टी के बने हुये दो वर्तुल (Cylinders or Candles) लगे हुये हैं। इनका पतला सिरा बाहर के बर्त्तन की ओर को निकला हुआ है।

वास्तव में जल इन वर्त्तुलों या कैंडिलों ही के द्वारा शुद्ध होता है। शेष केवल बर्त्तन हैं जिनमें जल भरा रहता है।
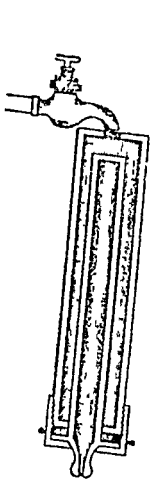
चित्र १०
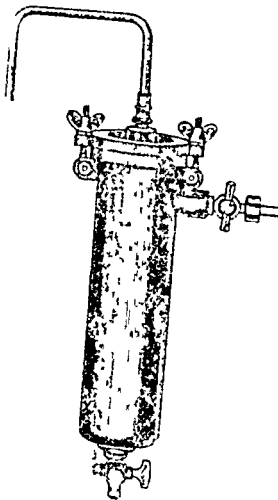
चित्र ११
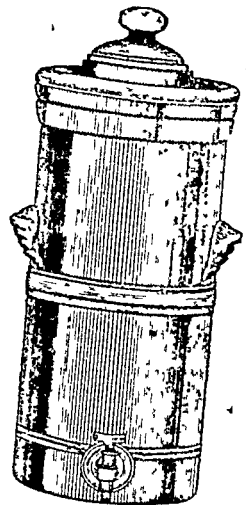
पैस्च्योर चैम्बलैंड निस्यन्दक
चित्र १२

शुद्ध करने के लिये जल को भीतरी बर्तन में, जिसके तल में वर्त्तुल लगे हुये हैं, भर दिया जाता है। यह जल वर्त्तुलों की दीवारों में से छनता हुआ उनके भीतर पहुँचता है और वहाँ से नीचे के छेद से निकल कर बाहरी बर्तन के नीचे के भाग में पहुँच जाता है जहाँ से उसको नल द्वारा लिया जा सकता है। चित्र देखने से यह स्पष्ट हो जायगा।

क्रे मिट्टी के वर्त्तुलों का यह विशेष गुण होता है कि जल की जितनी अशुद्धियाँ होती हैं वे बाहर ही रुक जाती हैं। रोगों के जीवाणु भी उनके दीवारों में हो कर भीतर नहीं जा सकते। इसलिये उनके द्वारा शुद्ध किया हुआ जल पूर्णतया संतोषजनक होता है।

क्रे ही के बने हुये और भी कई प्रकार के फ़िल्टर बाज़ार में बिकते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि उनको नल में लगा दिया जाता है। नल का पानी उनमें छन कर निकलता है और पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। इनमें आवश्यकता इस बात की है कि भीतर जो जल भरा रहे वह काफ़ी मात्रा में हो। जब तक जल का पर्याप्त भार न रहेगा तब तक जल वर्त्तुलों में होकर न छनेगा।

बर्क फ़ील्ड फ़िल्टर के द्वारा जल तेज़ी से छनता है।

फ़िल्टरों के भीतर के वर्त्तुलों को समय-समय पर निकाल कर स्वच्छ करना आवश्यक है। ब्रुश से रगड़ कर उनको उबलते हुये जल में रखना चाहिये। यदि जल, जिसको उनके द्वारा शुद्ध किया जाता है, गन्दा हो तो प्रति सप्ताह एक बार उनको स्वच्छ करना आवश्यक है। नहीं तो साधारण जल के लिये महीने में एक बार स्वच्छ करना पर्याप्त है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि अत्यन्त गन्दे और हानिकारक जल को किसी भी भाँति पीने योग्य नहीं बनाया जा सकता। इस कारण जहाँ तक हो सके उत्तम जल लेना चाहिये।

हमारे देश में घड़ों के द्वारा जल को शुद्ध करने की भी रीति प्रचलित है। एक लकड़ी की टिकटी पर चार घड़ों को एक दूसरे के ऊपर नीचे रख देते हैं। ऊपरी तीन घड़ों की तली में एक छेद होता है जिसमें थोड़ी

बड़ी मात्रा में शुद्ध करना पड़ता है, और उसके लिये बहुत बड़े बड़े तालाब के आकार के निस्पन्दक या फ़िल्टर बनाने पड़ते हैं। इनकी बनावट चित्र से समझ में आ जायगी। इनमें सब से नीचे (१) ईंटें रहती हैं। ईंटें इस प्रकार रखी जाती हैं कि उनके बीच में तथा ऊपर से नीचे की
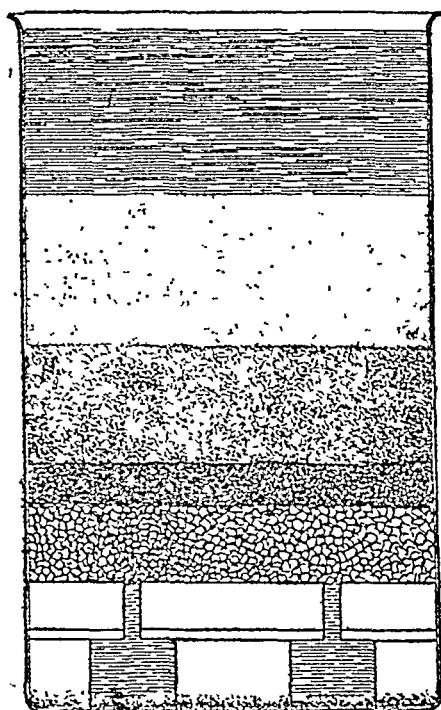
बालू के निस्पन्दक का कल्पित चित्र—चित्र १४

ओर जल जाने का स्थान रहता है। ईंटों की केवल दो तहें दी जाती हैं जैसा चित्र में दिखाया गया है। (२) ईंटों के ऊपर कंकड़ या पत्थरों के छोटे छोटे टुकड़ों का लगभग दो फ़ुट मोटा एक परत रहता है जिसमें नीचे की ओर बड़े टुकड़े और उन पर, छोटे टुकड़े रहते हैं। (३) इसके ऊपर मोटी बालू का २ या ३ फ़ुट गहरा परत रहता है (४) और उस पर

जल घर में किसी भी काम में न लाना चाहिये। क्योंकि उसका किसी न किसी प्रकार पीने के लिये प्रयुक्त हो जाना संभव है।

प्रश्न

१—जल का संगठन बताओ। प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से नगर में कितना जल मिलना चाहिये ?

२—पीने के लिये कहाँ से जल लेना चाहिये ? नदी और तालाब का जल किस प्रकार दूषित हो जाता है? किन उपायों द्वारा इनको सुरक्षित करोगे जिससे इनसे पीने के लिये संतोषजनक जल मिल सके ?

३—कुएँ कै तरह के होते हैं ? किस प्रकार कुएँ के जल को दूषित होने से बचाओगे ? एक उत्तम कुएँ का वर्णन करो।

४—जल की शुद्धि किस प्रकार की जा सकती है ? यदि तुम किसी ऐसे स्थान पर पहुँच जाओ जहाँ जल दूषित हो तो किस प्रकार शुद्ध करके उसको पीने योग्य बनाओगे ?

५—म्यूनिसिपैलिटी की ओर से जनता में जिस जल का वितरण किया जाता है उसकी शुद्धि किस प्रकार होती है ?

६—घर के प्रयोग के लिये किस प्रकार जल शुद्ध करोगे ?

—:※:—

पचता है और शरीर में उपस्थित जल की कमी की पूर्ति होती है। भोजन के अन्य कई अवयव इसी तरह शरीर में कार्य करते हैं।

भोजन का संगठन—रासायनिक परीक्षाओं से यह पाया गया है कि भोजन के जितने भी पदार्थ हैं वह आक्सीजन, हाइड्रोजन, कार्बन नाइट्रोजन, गंधक, और फ़ास्फ़ोरस नामक तत्व या मौलिकों (Elements) से मिल कर बने हैं। कुछ दूसरे मौलिक जैसे लौह, ताम्र इत्यादि भी भिन्न भिन्न वस्तुओं में पाये जाते हैं। यह भी पाया गया है कि कुछ वस्तुओ में नाइट्रोजन होता है कुछ में नहीं। जिसमें नाइट्रोजन होता है उनको प्रोटीन कहते हैं। शेष वस्तुएँ फिर दो श्रेणियों में विभक्त की गई हैं जिनको कार्वोहाइड्रेट और बसा कहते हैं। ये दोनों आक्सीजन, हाइड्रोजन और कार्बन से बनते हैं। ये तीनों भोजन पदार्थों के मूल या **विशिष्ट अवयव** (Principles) कहलाते हैं।

इस प्रकार भोजन पदार्थों में तीन मौलिक अवयव पाये जाते हैं—प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट और बसा। भिन्न भिन्न पदार्थों में इनकी मात्रा भिन्न होती है। किसी में प्रोटीन अधिक होती है तो किसी में कार्बोहाइड्रेट या बसा अधिक होते हैं।

इनके अतिरिक्त तीन और ऐसी वस्तु हैं जो भोज्य पदार्थों में पाई जाती हैं। इनको जल, लवण (Salts) और विटेमीन कहते हैं।

इस प्रकार भोज्य पदार्थों में मिलने वाले ६ भाग हुये। इन सब भागों के काम पृथक् पृथक् हैं। वे शरीर की भिन्न भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और उनका पाचन भी भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। अतएव प्रत्येक का यहाँ संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

१. प्रोटीन—इनमें कार्बन, आक्सीजन और हाइड्रोजन के साथ नाइट्रोजन, गंधक और फ़ास्फ़ोरस भी होते हैं।

इनका विशेष काम शरीर के टूटे फूटे भागों को फिर से बनाना है। शरीर की क्षति को पूर्ण करने वाली प्रोटीन ही होती है और नये सैल उत्पन्न करना भी इन्हीं का काम है।

शरीर में परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न होती है। जिन लोगों को केवल शारीरिक परिश्रम ही द्वारा अपना जीवनोपार्जन करना पड़ता है जैसे मज़दूरों को, उनके भोजन में कार्बोहाइड्रेट विशेष कर अधिक होता है।

कार्बोहाइड्रेट पाचन और शोषण होने के पश्चात् रक्त द्वारा माँसपेशियों (Mu-cles) के पास ले जाया जाता है। इसका सबसे अधिक व्यय पेशियों ही में होता है जहाँ प्रत्येक समय कुछ न कुछ क्रिया होती ही रहती है। यदि वहाँ से कुछ बच जाता है तो वह यकृत (Liver) के पास पहुँचता है जहाँ वह ग्लायकोजिन (Glycogen) के रूप में एकत्र रहता है और आवश्यकता पड़ने पर फिर से शक्कर के रूप में परिणत होकर पेशियों में पहुँच जाता है।

कार्बोहाइड्रेट शक्कर, निशास्ता, चावल, जौ, मकई, आलू, अरारोट और साबूदाने में बहुत अधिक होता है।

वसा--घी, मक्खन, तेल वसा के उदाहरण हैं। ये भी कार्बन हाइड्रोजन और आक्सीजन से बनते हैं। किन्तु इनका परिमाण कार्बोहाइड्रेट से पृथक् होता है और इनके अणु भी कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा कहीं बड़े होते हैं।

वसा से भी परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न होती है। कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा वसा से २१ गुणा अधिक शक्ति उत्पन्न होती है। वसा शरीर की शक्ति का सुरक्षित भंडार है। कार्बोहाइड्रेट की कमी होने पर शरीर वसा को काम में लाता है।

वसा का काम ठीक कार्बोहाइड्रेट ही के समान है। किन्तु उससे ऊष्णता अधिक पैदा होती है। इस कारण गर्मियों के मौसम में वसा खाने की इच्छा नहीं होती। घी, मक्खन, तेल इत्यादि ग्रीष्म काल में अधिक नहीं खाये जा सकते। उनसे बदहज़मी हो जाती है तथा पतले दस्त आने लगते हैं। प्रोटीन भी ऊष्णता अधिक उत्पन्न करती है। कार्बोहाइड्रेट से ऊष्णता बहुत कम पैदा होती है। इसी कारण गर्मियों में शरबत बहुत पिया जाता है।

जल—हमको जल की आवश्यकता इस कारण होती है कि हमारे शरीर में २/३ भाग जल उपस्थित रहता है। जब भी इसकी मात्रा में कमी हो जाती है तो बेचैनी मालूम होने लगती है। और यदि कुछ समय तक जल न मिले तो शरीर को हानि पहुँचती है। मूत्र त्याग कम हो जाता है जिससे शरीर के विष शरीर से बाहर नहीं निकल सकते। स्वेद के न निकलने से भी यही होता है।

जल से पाचन में भी सहायता मिलती है। उसके द्वारा पचे हुये भोजन का रस रक्त के साथ शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचता है।

किन्तु भोजन के साथ अधिक जल पीने से भी पाचन बिगड़ता है। आमाशय रस में जल अधिक मिल जाने से उसकी पाचन क्रिया पूर्ण नहीं होती।

जो जल हम पीते हैं उसके अतिरिक्त प्रत्येक भोजन पदार्थ के साथ जल हमारे शरीर में पहुँचता है। शरीर को साधारणतया ३½ से ४ सेर तक जल की प्रति दिन आवश्यकता होती है।

विटामीन—ऊपर बताये हुये अवयवों के अतिरिक्त भोज्य पदार्थों में एक और भी अवयव पाया जाता है जिसको विटामीन या जीवनीयगण कहते हैं। आज कल इन पर बहुत अन्वेषण हुआ है और यह प्रमाणित हो चुका है कि स्वास्थ्य बहुत कुछ इन्हीं पर निर्भर करता है। यह एक प्रकार की रासायनिक वस्तुयें हैं जो भोज्य पदार्थों में उपस्थित पाई जाती हैं। भोजन में इनकी अनुपस्थिति से स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ये वस्तुयें ताज़ा फल, दूध, बिना उबले हुये अंडे इत्यादि में पाई जाती हैं। उबालने या पकाने से यह नष्ट हो जाती हैं। इनमें विशेषता यह है कि इनके कम या अधिक होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। तनिक सा ताज़ा भोज्य पदार्थ, एक चम्मच ताज़ा दूध या सन्तरे की दो फाँकों का रस, सारी कमी को पूरी कर सकता है।

प्रयोगों द्वारा यह पाया जाता है कि यदि किसी जन्तु को रासायनिक शुद्ध भोजन, जिसमें कार्बोहाइड्रेट, वसा तथा प्रोटीन उचित मात्रा में रहें,

सम्बन्ध है। इसकी न्यूनता से यह शक्ति भी कम हो जाती है तथा स्तनों में दूध भी कम उत्पन्न होता है।

अतएव भोजन में सादा दूध, ताज़ा मक्खन, हरे फल, शाक इत्यादि उपस्थित रहने चाहिये जिससे शरीर की रोग निवारण शक्ति पूर्ण बनी रहे।

विटेमीन-बी—विटेमीन 'बी' का वास्तव में एक समूह है जो Vitamin Complex कहलाता है। इसमें ५ या ६ प्रकार की विटेमीन 'बी' का ही रूप माना जाता है।

इसकी कमी से बेरी-बेरी नामक रोग फैलता है तथा उसी के समान लक्षण वाली अन्य भी दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। रूस जापान के युद्ध में जब यह रोग भयंकर रूप से जापानी सेना में फैला था उसी समय इस विटेमीन के संबंध में खोज की गई थी। वास्तव में इस विषय में खोज तभी से प्रारम्भ हुई है।

विटेमीन बी जल में घुल जाती है। १०० शतांश के ताप को भी यह सहन कर सकती है। इस कारण उबालने से भी यह नष्ट नहीं होती। किन्तु जल में घुलकर निकल जाती है। इसी कारण जिस जल में शाक को उबाला जाय उसको फेंकना नहीं चाहिये। यह विटेमीन हरे शाक, फल, तथा वृक्ष के भिन्न भिन्न भागों में, जैसे पत्ती, तना इत्यादि में पाई जाती है। नींबू, नारंगी, टमाटर, सेव, मटर, गाजर, आलू, दूध, मठा, शहद, चावल (बिना पालिश किया हुआ), अंगूर आदि में यह विटेमीन बहुतायत से रहती है।

इस विटेमीन की कमी बेरी-बेरी नामक रोग का विशेष कारण मानी जाती है। Peripheral Neuritis नामक रोग भी इसी की कमी से उत्पन्न होता है। जहाँ बर्मा का पालिश किया हुआ चावल अधिक प्रयोग किया जाता है, जैसे बंगाल या आसाम में, वहाँ इस रोग का कारण चावल ही को माना जाता है। पालिश करते समय चावल के बाहरी छिलके को निकाल दिया जाता है जिससे ये चावल छोटे और चमकीले हो

विटेमीन-ई—यह भी विटेमीन-ए और डी की भाँति तेल में घुलने वाली है। गेहूँ के दानों के तेल में यह बहुतायत से मिलती है। मटर, सेम, पातगोभी, तथा अन्य हरे शाक में भी पाई जाती है। दूध, मक्खन तथा पशुवों द्वारा उत्पन्न हुई वसा में यह अधिकता से पाई जाती है। वानस्पतिक तेलों में यह अधिक नहीं होती।

यह ताप अधिक सहन कर सकती है। २०० डिग्री सेन्टीग्रेड पर भी इसका नाश नहीं होता।

कितना भोजन आवश्यक है—भोजन के विशिष्ट अवयवों के गुण तथा कर्म जानने के पश्चात् अब हमको यह जानना आवश्यक है कि शरीर को कितने भोजन की आवश्यकता होती है तथा भोजन में भिन्न भिन्न अवयवों की कितनी मात्रा होनी चाहिये। यह हिसाब हम तभी लगा सकते हैं जब हमको यह मालूम हो कि शरीर कितना काम करता है, उसमें कितनी क्षति होती है तथा कितने ताप की उसको आवश्यकता है। साथ ही भोजन के भिन्न भिन्न अवयवों द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति का ज्ञान भी आवश्यक है।

शक्ति को ताप रूप में नापा जाता है। ताप की एकाई वैज्ञानिक लोग केलोरी (Calorie) मानते हैं। एक केलोरी ताप वह शक्ति है जो एक पौंड (आध सेर) जल के ताप को १ डिग्री फ़ैरनहाइट या एक लिटर (१००० सी. सी.) जल के ताप को १ डिग्री सेन्टीग्रेड बढ़ा दे। बस भिन्न भिन्न भोजन के अवयवों की विशिष्ट मात्रा को जलाने से जो ताप उत्पन्न होगा वही उनके द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति है। प्रयोगों द्वारा यह ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

यह अनुमान किया गया है कि सामान्य परिश्रम करने वाले व्यक्ति जैसे दफ्तर के क्लर्क इत्यादि के लिये २५०० केलोरी शक्ति उत्पन्न करने वाला भोजन होना चाहिये। साथ में यह भी हिसाब लगा लिया गया है कि १ ग्राम (१५$\frac{1}{2}$ ग्रेन या ७$\frac{3}{4}$ रत्ती) प्रोटीन, वसा या कार्बोहाईड्रेट के जलने से निम्नलिखित शक्ति उत्पन्न होती है।

हिरन का माँस	१७·११	५·७७	×	१·३	७५·६.
मुर्गे का माँस	१६·७२	१·४२	×	१·३७	७६·२२.
मछली (सामन)	१५·००	७·००	×	२·००	७६·००.

निम्नलिखित तालिका में भिन्न भिन्न वस्तुओं में उपस्थित विटेमीन की मात्रा दिखाई गई है। जिन वस्तुओं में विटेमीन-ए है उनमें विटेमीन-डी को भी उपस्थित समझना चाहिये।

	विटेमीन-ए	विटेमीन-बी	विटेमीन-सी
टमाटर	+	+++	+++
मटर	++	++	+
नारंगी	+	++	+++
सेव	+	+	+
गोभी बन्द	+	+++	+++
आलू	+	++	++
" (१५ मिनट उबला हुआ)	—	++	++
प्याज	—	++	++
अंगूर	—	+	+
नींबू	—	++	+++
पालक	+++	+++	—
दूध	+++	++	+
मक्खन	+++	—	—
मलाई	+++	++	+
अंडा	++	+	—
शहद	—	+	—

अब हमको यह ज्ञात हो गया कि भिन्न भिन्न वस्तुओं से प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा वसा की कितनी मात्रा मिल सकती है, इन अवयवों की कितनी मात्रा से कितनी शक्ति मिल सकती है तथा साधारण परिश्रम

१ ग्राम ७$\frac{3}{4}$ रत्ती का होता है।

इस मात्रा में निम्नलिखित दशाओं के अनुसार कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा।

परिश्रम—जिनको कठिन काम करना पड़ता है, जैसे बोझा ढोना, गाड़ी खींचना, भागना इत्यादि जिसमें शारीरिक परिश्रम अधिक होता है, उनको हलका काम करने वालों की अपेक्षा अधिक भोजन आवश्यक है। विचार सम्बन्धी काम करने वालों के लिये अधिक भोजन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु उत्तम भोजन होना चाहिये जिसमें कार्बोहाइड्रेट कम तथा प्रोटीन अधिक हों। शारीरिक परिश्रम करने वालों को कार्बोहाइड्रेट अधिक मिलना चाहिये।

शरीर का आकार—छोटे और मोटे आकार वाले व्यक्ति की अपेक्षा लम्बे और दुबले शरीर वाले को अधिक भोजन चाहिये। क्योंकि उसके शरीर से ताप की अधिक हानि होती है।

जाति—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम भोजन चाहिये। उनका क़द भी छोटा होता है और शरीर भार भी कम होता है।

आयु—बच्चों को, उनके शरीर भार को देखते हुये, युवावस्था वाले पुरुषों की अपेक्षा अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। उनके शरीर में वृद्धि होती है। इस कारण उनको न केवल ताप और शक्ति उत्पन्न करने के लिये भोजन की आवश्यकता है, किन्तु शरीर के अंगों में जो नई उत्पत्ति होती है, उसके लिये भी भोजन चाहिये। एक दस वर्ष के बालक को एक पूर्ण युवती से आधा और चौदह वर्ष के बालक को युवती के बराबर भोजन की आवश्यकता होती है। बच्चे और बालकों को प्रोटीन और बसा अधिक मिलनी चाहिये।

वृद्धावस्था में भोजन कम करना चाहिये। उस समय अधिक भोजन की आवश्यकता नहीं होती। उलटे अधिक भोजन से हानि होती है।

भोजन का पकाना—Cooking Animal मनुष्य की व्याख्या है। मनुष्य ही एक ऐसा जन्तु है जो भोजन को पका कर खाता है। भोजन को पकाने की प्रथा उतनी ही पुरानी है जितनी कि अग्नि की खोज। जब से मनुष्य अग्नि उत्पन्न करने में समर्थ हुआ है तभी से वह भोजन को अग्नि की सहायता से पकाता रहता है।

पकाने से भोजन स्वादिष्ट हो जाता है और सहज में पच भी जाता है। भोजन पकाने के यही दो प्रयोजन हैं। साथ ही भोजन में जो अशुद्धियाँ मिली रहती हैं वह भी नष्ट हो जाती हैं। यदि रोगों के कोई जीवाणु उपस्थित होते हैं तो वे भी मर जाते हैं। इस प्रकार पकाने से भोजन शुद्ध हो जाता है।

आलू, चावल इत्यादि को यदि पकाये बिना खाया जाय तो वे नहीं पचेंगे। इनमें जो कार्बोहाइड्रेट होता है वह स्टार्च के रूप में रहता है, जिसको निशास्ता भी कहते हैं। इसके छोटे छोटे कण होते हैं जिन पर सैल्यूलोज् (Cellulose) नामक वस्तु का एक आवरण चढ़ा रहता है। यह आवरण कणों को जल में उबालने से फट जाता है। स्टार्च के कण बाहर निकल आते हैं। और उन पर पाचक रसों की क्रिया होती है। इस प्रकार जितने भी कार्बोहाइड्रेट हैं वे पकाने से शीघ्र पच जाते हैं। इसके विरुद्ध मांस, अंडे, मछली इत्यादि का ऐल्ब्युमिन तथा ग्ल्यूटिनिन, जो एक प्रकार के प्रोटीन ही होते हैं, जम जाते हैं और देर से पचते हैं। किन्तु यदि मांस को न पकाया जावे तो वह दाँतों से कट नहीं सकता। पकाने से उसके सूत्र फूल कर नरम हो जाते हैं और सहज में चबाये जा सकते हैं।

भोजन को पकाना एक कला है जिसमें पारंगत होना प्रत्येक स्त्री के लिये आवश्यक है। घर में उत्तम भोजन पकाना गृहस्थी का एक शुभ लक्षण है जिससे घर वालों में प्रेम बढ़ता है। गृहस्थी का जीवन सुखमय होता है और सबों का स्वास्थ्य उन्नत होता है। जिनको अपने हाथ से ... नहीं बनाना पड़ता उनके लिये भी भोजन पकाने की विधि को

उचित समय पर और नियम पूर्वक भोजन करना भी उतना ही आवश्यक है।

भोजन का समय कार्य या व्यवसाय पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जो लोग व्यापारी हैं उनको दोपहर को भोजन करने में सुभीता होता है। इस कारण उनको प्रातःकाल कुछ नाश्ता करना उचित है। उसके पश्चात् मध्यान्ह के समय उनका मुख्य भोजन होता है। अंतिम भोजन संध्या या रात्रि के समय होना चाहिये। इस प्रकार २४ घंटे में तीन बार भोजन करना पर्याप्त है। प्रत्येक भोजन में ५ या छः घंटे का अन्तर रहना चाहिये। रात्रि का भोजन मध्यान्ह के भोजन से हल्का होना चाहिये; और वह सोने से जहाँ तक हो सके तीन या चार घंटे पूर्व हो, जिससे सोते समय आमाशय भरा हुआ न रहे। रात्रि को सोते समय दूध पीना और तुरन्त सो जाना उचित नहीं है।

बहुत से लोग केवल दो ही बार भोजन करते हैं। ऐसा करने से अधिक भोजन कर लेने का डर रहता है। साथ ही आमाशय बहुत समय तक खाली रहता है जो उचित नहीं है। यदि पाचन शक्ति बिगड़ी हुई हो तो अवश्य ऐसा किया जा सकता है। किन्तु तीन या चार बार में थोड़ा थोड़ा भोजन करना एक ही बार अधिक भोजन करने की अपेक्षा उत्तम है।

जिन लोगों को दफ़्तरों में १० से ४ बजे तक काम करना पड़ता है अथवा विद्यार्थियों को जिन्हें स्कूल में १० से ४ तक रहना पड़ता है, उनको प्रातःकाल नौ बजे भोजन करना पड़ता है। इनके लिये दो बजे के लगभग जलपान आवश्यक है। तत्पश्चात् ७ या ८ बजे रात्रि को पूर्ण भोजन करना चाहिये।

बालकों को तथा विद्यार्थी अवस्था में अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। उनको चार बार अवश्य भोजन मिलना चाहिये। जो स्कूल या कालेज जाने वाले विद्यार्थी हैं वे प्रातः काल ६॥ बजे पर एक प्याला दूध तथा दो विस्कुट या एक प्याला चाय तथा डबल रोटी के दो टुकड़े

मक्खन लगा कर ले सकते हैं। इतना भोजन २½ से तीन घंटे में पच जाता है और ६॥ बजे पर आमाशय फिर से खाली हो जाता है।

भोजन करने के संबंध में यह नियम सदा स्मरण रहे कि "भूखे पेट भोजन के लिये बैठना और भूखे पेट ही उठना चाहिये"। अर्थात् भोजन उस समय करना चाहिये जब भूख लगी हो; और इतना ही भोजन किया जाय कि पेट भारी न मालूम हो। पुरानी कहावत है कि आधी रोटी की भूख रख कर भोजन करना चाहिये। यह अत्युत्तम है। अधिक भोजन करने से आमाशय दुर्बल हो जाता है और पाचन शक्ति बिगड़ जाती है।

भोजन भली भाँति चबा कर करना चाहिये। इससे भोजन के ग्रास सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाते हैं जिससे पाचक रस प्रत्येक कण पर पहुँच कर अपनी क्रिया कर सकता है। भली भाँति चबाने से पाचक रस भी अधिक बनता है। इन दोनों कारणों से भोजन शीघ्र पच जाता है। बिना चबाये हुये जल्दी जल्दी भोजन को निगल जाने से उस पर मुख के रस (Saliva) की क्रिया नहीं होने पाती, आमाशयिक रस भी कम बनता है; भोजन के बड़े बड़े टुकड़े होने के कारण वह देर से पचते हैं। बहुत समय तक यह दशा रहने से आमाशय दुर्बल पड़ जाता है और मन्दाग्नि (Dyspepsia) हो जाती है।

भोजन के पूर्व या पश्चात् कठिन परिश्रम न किया जाय। न तो व्यायाम के पश्चात् तुरंत ही भोजन किया जाय और न भोजन करने के पश्चात् ही व्यायाम करना उचित है। भोजन के पश्चात् अंत्रियों को भोजन पचाने के लिये अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। व्यायाम या कठिन काम करने से रक्त अंत्रियों में न जाकर पेशियों में जाता है। इससे पाचन ठीक नहीं होता। इस कारण भोजन के पश्चात् थोड़ा विश्राम करना है।

भोजन के उपरान्त तुरन्त ही स्नान न करना चाहिये। इससे भी पाचन

बिगड़ता है। इसी प्रकार रात्रि को भोजन करने के पश्चात् तुरंत ही सोना भी ठीक नहीं है। उस समय थोड़ा टहलना उत्तम है।

भोजन सम्बन्धी साधारण नियमों का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् हमको कुछ सामान्य भोज्य पदार्थों का ज्ञान करना भी आवश्यक है। ये पदार्थ, जिनका आगे के पृष्ठों में वर्णन किया जाता है, नित्य प्रति काम में आने वाले हैं और इस कारण स्वास्थ्य से बहुत संबंध रखते हैं।

दूध

दूध एक ऐसी साधारण और अमूल्य वस्तु है कि यदि उसको अमृत कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वास्तव में संस्कृत में मनुष्य के लिये दूध को वैसा ही बताया गया है जैसा देवताओं के लिये अमृत। 'यथा सुराणां अमृतं हि उक्तं तथा नराणाम् दुग्धमाहुः"।

जब से बच्चा पैदा होता है तब से ६ या ७ मास तक उसके शरीर का पोषण माता के दूध ही से होता है। उस ही से उसकी सारी आवश्यकतायें पूरी होती हैं जिससे उसके शरीर की वृद्धि होती है। तत्पश्चात् उसको गौ के दूध की आवश्यकता होती है जिससे कुछ अवयव माता के दूध की अपेक्षा अधिक होते हैं। आयु के अधिक होने पर अन्य वस्तुओं के साथ बच्चे और बालकों के भोजन में दूध का प्रधान भाग रहता है तथा रहना चाहिये।

शाकाहारियों के लिये आयु पर्य्यन्त दूध एक अभिन्न वस्तु है। विशेष कर जो विचार संबंधी अधिक काम करने वाले हैं उनके लिये तो दूध ही एक अवलंबन मात्र है। कुछ लोग एक समय केवल दूध ही पर रहते हैं वास्तव में यह माना जाता है कि दूध और फल का भोजन सब प्रकार से पूर्ण है जो शरीर की सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। हम यह देखते भी हैं कि कुछ व्यक्ति महीनों तक दूध पर निर्वाह कर लेते हैं।

जिस दूध से क्रीम पृथक् कर ली जाती है वह साधारणतया मखनिया दूध कहलाता है। इसमें केसीन और शकर, जो लैक्टोज़ (Lactose) कहलाती है, मिले रहते हैं। यदि इसमें थोड़ा नींबू का रस या एसटिक एसिड (Acetic Acid) मिला दी जाय तो छेना (केसीन और लैक्टोज़) नीचे बैठ जायगा और ह्वे पृथक् हो जायगी।

छेना, विशेषकर जिसमें बसा मिली रहती है, बड़ी बलदायक वस्तु होती है। इसी से रसगुल्ला, संदेश आदि मिठाई तैयार की जाती हैं। ह्वे उन रोगियों को दी जाती हैं, जो अत्यन्त दुर्बल होते हैं अथवा जिनको कोई दूसरी वस्तु नहीं पचती।

दूध में कार्बोहाइड्रेट लैक्टोज़ नामक शर्करा के रूप में रहते हैं। जब दूध से दही बनता है तो यह लैक्टोज़ लैक्टिक एसिड के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। दूध में लैक्टोज़ लगभग ४% से ६% तक उपस्थित रहती है।

यद्यपि दूध इतनी उत्तम वस्तु है किन्तु उसके दोष और गुण कई बातों पर निर्भर करते हैं। प्रथम तो जिन पशुवों से दूध निकाला गया है उनकी दशा तथा भोजन का दूध पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। यदि वे रोगी हैं, तो उनके दूध से रोग होने की संभावना रहती है। बच्चों में उदर का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of Abdomen) इसी प्रकार से होता है। इसी कारण यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि गौ को, जिसका दूध प्रयोग किया जा रहा है, यह रोग तो नहीं है। पशु जो कुछ खाते हैं उसकी गन्ध तथा प्रभाव दूध में आ जाता है। पर्वत की गौओं के दूध में एक विशेष गन्ध आती है। उसका कारण वहाँ के वृक्षों की पत्तियाँ होती हैं।

दूसरे जिस प्रकार पशुवों को रखा जाता है, तथा दूध निकाला जाता है उससे भी दूध में दोष आ सकते हैं। पशुवों को नियमानुसार स्वच्छ स्थान में रखना चाहिये। किन्तु हमारे देश में जहाँ पशुवों को रखा जाता है और जहाँ ग्वाले दूध निकालते हैं वे स्थान अस्वच्छता का आदर्श होते

यदि दूध या मलाई में अरारोट मिलाया गया है तो उसमें थोड़ा सा टिंचर-आयोडीन मिलाने से उसका रंग नीला हो जायगा।

यद्यपि दूध शरीर के पोषण और स्वास्थ्य के लिये सर्वोत्तम खाद्य पदार्थ है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि उसको उचित प्रकार से न रखा जाय तथा उसको शुद्ध रखने के पूरे उपाय न किये जायँ तो वह अत्यन्त भयंकर वस्तु हो जाती है। उसके द्वारा यदि मनुष्य के शरीर का पोषण होता है तो रोगों के जीवाणुवों का भी उतनी ही सुगमता से पोषण होता है। रोगों के जीवाणु दूध में बहुत वृद्धि करते हैं। उनकी संख्या थोड़े ही समय में एक से सहस्रों हो जाती है। और जब वह दूध प्रयोग में आता है तो रोग फैलते हैं। दूध में गैसों के शोषण का भी बहुत गुण है। यदि दूध को मोरी के पास रख दिया जाय तो कुछ ही समय में मोरी की बहुत सी गैस दूध में प्रविष्ट हो जायगी। इस प्रकार दूध बहुत ही शीघ्र और सहज में दूषित हो जाने वाली वस्तु है। अतएव दूध को जितना भी शुद्ध रखने का प्रयत्न किया जा सके कम है।

लैक्टोमीटर
चित्र १५

दूध को उबालना—दूध में दूषित वस्तुओं के सम्मिलित होने का डर रहता है। इस कारण पीने से पूर्व दूध को उबाल लेना आवश्यक है। किन्तु जिस प्रकार साधारणतया दूध १०० शतांश तक उबाला जाता है, उससे दूध के बहुत से लाभकारक भाग नष्ट हो जाते हैं। दूध का लैक्टैलब्यूमिन, जो उबालने के पूर्व शरीर में पूर्णतया शोषित हो जाने वाला होता है, अशोष्य हो जाता है। दूध में इस प्रकार के सात पदार्थ होते हैं जिनसे दूध स्वयं पच सकता है। इनको फ़र्मेन्ट (Ferments)

गौ का दूध बना कर दिया जाता हो उनको अंगूर या सन्तरे का रस नित्य देना आवश्यक है।

दूध का पाचन—दूध का पाचन आमाशय में प्रारंभ हो जाता है और अंत्रियों में भी होता रहता है। आमाशय में पहुँच कर दूध उस ही प्रकार फट जाता है जैसे नींबू का रस मिलाने से। इससे छैना पृथक् हो जाता है। दूध का पाचन इस छैने पर ही निर्भर करता है। यदि छैना गाढ़ा बनता है तो पाचन में अधिक समय लगता है। यदि छैना हलका होता है तो पाचन भी शीघ्र हो जाता है। उबले हुये दूध का छैना अधिक घना होता है। इस कारण वह देर से पचता है। १० छटाँक बिना उबला हुआ दूध ३½ घंटे में पचता है। किन्तु उबले हुये १० छटाँक दूध के पाचन में ४ घंटे लगते हैं। १० छटाँक दही केवल ३ घंटे में पच जाता है। सोडियम सायट्रेट मिला देने से छैना हलका बनता है। जिनकी पाचक शक्ति दुर्बल होती है उनको प्रत्येक बार पीने के दूध में एक चुटकी या १० ग्रेन सोडियम सायट्रेट मिला कर देना चाहिये।

शरीर में दूध का शोषण पूर्ण होता है। दूध में उपस्थित शक्ति के ६०% भाग को शरीर ग्रहण कर लेता है और उसके पाचक तथा शोषण में अंत्रियों को बहुत कम काम करना पड़ता है।

दही—दूध को जमा कर दही बनाया जाता है। उबलने के पश्चात् दूध जब ठंडा होने लगता है तो उसमें थोड़ा सा दही मिला देते हैं और उसको ढक कर रख देते हैं। ८ से १० घंटे में दही तैयार हो जाता है। यदि ठंढ अधिक हो तो उसको गरम स्थान में रखना चाहिये।

दूध में परिवर्त्तन एक जीवाणु के कारण होता है जिसको Bacillus Lactic कहते हैं। इसके द्वारा दूध की शर्करा लैक्टिक एसिड में परिवर्तित हो जाती है, केसीन और वसा दोनों जम जाती हैं और कैलशियम लैक्टिक एसिड के साथ मिलकर कैलशियम लैक्टेट बन जाता है। जब यह क्रिया किसी प्रकार ताप के उपयुक्त न होने पर या अन्य किसी कारण से विकृत हो जाती है तो दही खट्टा हो जाता है।

शुद्ध घी अत्यन्त उत्तम पदार्थ है। वह पूर्ण वसा है और दाल, चावल या रोटी के साथ खाने से उनकी वसा की कमी को पूरा कर देता है। भैंस का घी श्वेत और गौ का पीला होता है। जाड़ों का घी गरमियों के घी की अपेक्षा उत्तम माना जाता है।

आज कल बाज़ार में शुद्ध घी मिलना असम्भव है। जिस घी को दूकान वाले शुद्ध कह कर बेचते हैं उसमें भी मिलावट रहती है। गाँव वाले घी में मिलावट करने की अनेकों तरकीबें जान गये हैं। इस कारण जो घी गाँव से आता है वह भी प्रायः शुद्ध नहीं होता। मूँगफली का आटा या तेल, अरवी या पिसे हुये आलू, पशुओं की चर्वी, नारियल या महुवे का तेल, एरण्ड का तेल इत्यादि वस्तुयें घी में मिलाई जाती हैं। आज कल बाज़ार में जो वनस्पति घी बिकता है उसको प्रायः घी में मिला दिया जाता है। कुछ ग्वाले वनस्पति घी को दूध में मिला कर जमा देते हैं, और फिर उसको मथ कर निकाल लेते हैं। इससे उसमें सुगन्धि भी आ जाती है।

छैना—यह बहुत पौष्टिक वस्तु है और साथ में शीघ्र पचने वाला भी है। दूध को फिटकरी, नींबू के रस, टारटारिक अम्ल इत्यादि से फाड़ कर बनाया जाता है। इसमें केसीन, दूध की वसा और कुछ शर्करा रहती है। क्षय समान रोगों में शाकाहारियों के लिये ये उत्तम वस्तु है।

चीज़—इस वस्तु का योरुप में अधिक प्रयोग किया जाता है। यह दूध से तैयार की जाती है। इसमें केसीन, वसा और लवण होते हैं। किन्तु एक विशेष प्रकार की गन्ध के कारण केवल वही लोग इसका प्रयोग कर सकते हैं जो इसके अभ्यस्त हैं। इसमें पर्याप्त पोषण शक्ति होती है।

अंडा

अंडे से एक जन्तु का शरीर बनता है। इस कारण उसमें वह सब

जायगा। किन्तु पुराना अंडा तैरने लगेगा। जो अंडा बिल्कुल ख़राब हो गया है वह साधारण जल में भी तैर आयेगा।

माँस

संसार में माँस का बहुत प्रयोग किया जाता है। हमारे देश में भी माँस खाने वालों की संख्या कम नहीं है।

जिसको हम माँस कहते हैं वह वास्तव में पशुवों की माँस पेशियों के टुकड़े होते हैं। अतएव उसमें पेशियों के लाल लाल सूत्र होते हैं और बीच में श्वेत रंग की संयोजक धातु (Connective Tissue) होती है। साधारणतया कुछ पशुवों का लाल माँस (Red Meat) और कुछ का श्वेत माँस कहा जाता है। भेड़, गौ और सूअर का लाल माँस कहलाता है। मुर्गी का श्वेत माँस कहा जाता है। गौ और सूअर के माँस धार्मिक व्यवस्थाओं द्वारा वर्जित हैं। इनसे कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। लाल माँस में प्रोटीन अधिक होती है, श्वेत में कम। किन्तु श्वेत माँस शीघ्र पचने वाला होता है। कुछ पशुवों के माँस में वसा विशेषतया अधिक होती है जैसे सूअर के माँस में।

हमारे देश में, विशेष कर गर्मी के मौसम में माँस उत्तम दशा में नहीं रह सकता। और अन्य वस्तुओं की भाँति केवल ताज़ा उत्तम माँस ही प्रयोग करना चाहिये। दूषित माँस से रोग उत्पन्न हो सकते हैं। माँस में दोष कई प्रकार से आ सकते हैं। यदि वह पशु, जिसका माँस है, रोग ग्रस्त था, तो माँस दूषित होगा। इस कारण म्यूनिसिपैलटियों की ओर से पशुवों की जाँच करने के लिये इंसपेक्टर नियुक्त होते हैं जिनका काम कटने से पूर्व पशुओं की जाँच करना होता है।

ताज़ा उत्तम माँस में कुछ कड़ापन रहता है, किन्तु यह लचकीला होता है। उसका रंग हलका लाल होता है और उसमें एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है, जो दुर्गन्धि नहीं होती। यदि माँस बहुत नरम हो या उसका रंग गहरा लाल या पीला सा दिखाई दे तो उसको सन्देह की

जाते हैं। डिब्बों में बन्द जो माँस आता है उसके प्रयोग से भी कभी कभी यही लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

रोग ग्रस्त पशुवों के माँस से सदा रोग उत्पन्न होता है। पशुवों को चेचक, निमोनिया, राजयक्ष्मा, टाईफ़ाइड, सन्धिवात (Rheumatism) आदि रोग होते हैं। ग्लैन्डर्स, फ़ार्सी, ऐन्थैक्स पशुवों के विशेष रोग हैं। पशुवों में कई कृमियों के लार्वे (Larvæ) रहते हैं। ऐसे माँस को खाने से ये लार्वे मनुष्य के शरीर में पहुँच कर पूर्ण कृमि उत्पन्न कर देते हैं जो मनुष्य के शरीर को आक्रान्त करके उसका जीवन नष्ट कर सकते हैं।

अधिक माँस प्रयोग करने वालों को सन्धिवात तथा गठिया के रोग अधिक होते हैं। इस कारण इन रोग वालों को माँस नहीं खाना चाहिये।

मछली—बंगाल आदि प्रान्तों में इसका बहुत प्रयोग होता है यद्यपि वह थोड़ी बहुत सारे देश में खाई जाती हैं। मछली में माँस की अपेक्षा प्रोटीन कम होती है। किन्तु मछली की प्रोटीन और वसा दोनों का पाचन और शोषण माँस को अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है। इस कारण वह दुर्बल पाचन शक्ति वालों को भी दी जा सकती है। उसमें दिमाग़ के लिये कोई विशेष वस्तु नहीं होती यद्यपि साधारण विश्वास यही है कि मछली दिमाग़ के लिये बहुत उत्तम है।

वानस्पतिक भोज्य पदार्थ

हमारे देश की अधिकतर जनता शाकाहारी है। अथवा यों कहना चाहिये कि सारी जनता शाकाहारी है। जो लोग माँस का प्रयोग करते हैं वे भी उसको केवल उसी प्रकार खाते हैं जैसे कि शाकाहारी रोटी या चावल के साथ दाल या तरकारी को खाते हैं। ऐसे कोई लोग नहीं हैं जिनका मुख्य आधार माँस हो। अतएव सारी जनता मुख्यतया वानस्पतिक पदार्थों ही से शरीर की आवश्यकतायें प्राप्त करती है।

वानस्पतिक पदार्थ पाँच वर्गों में बटे हुये हैं। गेहूँ, जौ, मकई, ज्वार, बाजरा, चावल आदि शूक वर्ग (Cereals) में हैं। इन सबों में कारबो-हाइड्रेट की अधिकता है। शाकाहारी कारबोहाइड्रेट को इन्हीं से प्राप्त

करते हैं यद्यपि उनमें कुछ प्रोटीन भी रहती है। दूसरा शिम्बी व
(Pulses) है जिसमें अरहर, मूंग, मसूर, उरद, मटर इत्यादि की दालें
हैं। इनमें प्रोटीन अधिक होती है यद्यपि माँस या अंडे की अपेक्षा कम
होती है। इनमें भी कारबोहाइड्रेट की काफ़ी मात्रा रहती है। शाकाहारियों
को इन्हीं से प्रोटीन मिलती है। तीसरा शाक वर्ग (Vegetrables) है
जिसमें गोभी, टमाटर, लौकी, पालक, इत्यादि शाक सम्मिलित है। इनका
प्रयोग लवणों तथा विटमीन के लिये किया जाता है। चौथा कन्द वर्ग
(Roots & Tubers) है। इसमें आलू, गाजर, चुकन्दर, शलजम,
मूली इत्यादि वस्तुयें सम्मिलित हैं। यह सब भूमि के भीतर उत्पन्न होने
वाली वस्तुयें हैं। पाँचवाँ वर्ग फलों का है जिसमें हरे और शुष्क फल हैं।
नारंगी, अनार, अंगूर, आम, बादाम, पिस्ता, मुनक्का आदि का विशेष
प्रयोग शाकाहारियों तथा आमिष भोजियों के लिये भी अत्यन्त लाभ-
दायक है।

शूकवर्ग में गेहूँ का बहुत प्रयोग किया जाता है। गेहूँ के दानों को
पीस कर उससे आटा, मैदा तथा सूजी तैयार की जाती है। गेहूँ के आटे
में 'ग्ल्यूटिनिन' नामक प्रोटीन होती है। इसके कारण आटे के कणों में
चिपकने का गुण आ जाता है। जिससे आटे में जल मिलाने और मींडने
पर उसकी रोटी सहज में बन जाती है। बाजरे और ज्वार में ग्ल्यूटिनिन
नहीं होती। इस कारण उनके आटे में चिपकने की शक्ति नहीं होती जिससे
रोटी बनाने में बड़ी कठिनाई होती है। डबल रोटी भी गेहूँ के आटे या
मैदा से बनाई जाती है। आटे को मींड कर उसमें ख़मीर (Yeast)
मिला दिया जाता है जिससे फ़र्मेन्टेशन होकर गैस आटे में भर जाती है
और आटा फूल जाता है। इस कारण यह अत्यन्त सहज में पच जाती
है। इसके पतले पतले परत काट कर उनको आग पर सेकने से वह भुर
भुरे हो जाते हैं। यह टोस्ट कहलाते हैं। इन पर मक्खन लगा कर खाया
जाता है। यह बहुत उत्तम पोषक पदार्थ है जिसका पाचन भी शीघ्र ही
हो जाता है।

मकई में कारबोहाइड्रेट के अतिरिक्त प्रोटीन और बसा भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इसी कारण मकई की रोटी प्रायः साग के साथ खाई जाती है। यह उत्तम पोषक पदार्थ है।

जौ के आटे में ग्ल्यूटिनन नहीं होती है। इस कारण इसकी रोटी बनाना कठिन होता है। जौ में पोषक शक्ति काफ़ी होती है। इसको कई प्रकार से तैयार करके बाज़ार में बेचा जाता है—स्कौच बार्ले, पर्ल बार्ले, पोर्ट बार्ले इत्यादि। जौ के दानों के छिलके उतार कर उन पर पालिश करके पर्ल बार्ले बनाया जाता है। पर्ल बार्ले को पीस कर पेटैन्ट बार्ले बनता है। यह बार्ले रोगियों को दिया जाता है; बच्चों को भी उसका प्रयोग करवाया जाता है। पानी में जौ को उबाल कर पीने से मूत्र बहुत आता है।

चावल का प्रयोग यों तो सारे संसार में होता है किन्तु पूर्वीय देशों में जैसे जापान, चीन, हमारे देश के पूर्वीय प्रान्त बंगाल इत्यादि में यही मुख्य भोज्य पदार्थ है। अन्य सब अन्नों की अपेक्षा चावलों में कारबोहाइड्रेट अधिक होता है। प्रोटीन और बसा बहुत कम होते हैं। इस कारण चावलों को सदा दाल के साथ घी मिला कर खाया जाता है। बंगाल, चीन, जापान आदि में मछली या माँस के साथ खाते हैं।

चावल का पाचन बहुत सहज में होता है। १½ छटाँक उबले हुये चावल २½ घंटे में आमाशय से अंत्रियों में चले जाते हैं। इनका शोषण भी अंत्रियों द्वारा पूर्ण होता है। किन्तु इनको इस प्रकार पकाना चाहिये कि उनके भीतरी द्रव्यों का नाश न हो। भाप के द्वारा पकाना सर्वोत्तम है। जब जल में पकाया जाय तो केवल इतना जल मिलाना चाहिये कि उसको फेंकना न पड़े।

केवल उत्तम चावलों का प्रयोग करना चाहिये। उत्तम चावल पक कर खिल जाते हैं; दाने सब अलग हो जाते हैं, दानों का आकार बढ़ जाता है और उनसे सुगन्धि आने लगती है। जो चावल जितना उत्तम होगा वह उतना ही बढ़ेगा। यदि चावल पक कर न बढ़े तो उसको न खाना चाहिये।

जाता है। लौकी, भिंडी, गोभी, टमाटर, पालक, सोया, मेथी इत्यादि में पोषक शक्ति नहीं होती। किन्तु उनसे बहुत से लवण शरीर को प्राप्त होते हैं जो शरीर के लिये आवश्यक हैं। जो हरे पत्ते वाले शाक हैं विशेषकर पालक, सोया, सलाद इत्यादि उनसे शरीर को लोह मिलता है। इसके उपरान्त उनमें एक ऐसी वस्तु होती है जो पचती नहीं। इसको सैल्यूलोज़ कहते हैं। इससे अंत्रियाँ उत्तेजित होती हैं और मलत्याग शुद्ध होता है। अतएव जिनको क़ब्ज़ रहता हो उनको हरे शाक अधिक प्रयोग करने चाहियें।

कन्द और मूल—भूमि के भीतर उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं। उनका ऊपरी भाग—पत्तियाँ और तना—भूमि से ऊपर वायु में निकले रहते हैं और स्वयं कन्द और मूल पृथ्वी के भीतर रहते हैं। इनमें वृक्ष स्वयं अपने उपयोग के लिये पोषक पदार्थों को, जो स्टार्च या कार्बोहाइड्रेट के रूप में होते हैं, एकत्र कर लेता है। कन्द और मूलों में प्रोटीन और वसा प्रायः नहीं होते। केवल कार्बोहाइड्रेट होता है। इस कारण इनको घृत, तेल इत्यादि के साथ पका कर खाया जाता है। इनमें आलू विशेष है।

आलू का प्रयोग संसार भर में होता है। कुछ देशों का, जैसे आयरलैंड का, यह मुख्य खाद्य पदार्थ है। इसमें स्टार्च की मात्रा बहुत होती है। प्रोटीन बहुत कम होती है। किन्तु जो प्रोटीन होती है वह शरीर की प्रोटीन के समान होने के कारण बहुत लाभदायक होती है। वसा और प्रोटीन की कमी के कारण आलुओं को सदा घी में भून कर या रसा बना कर खाना चाहिये। दुर्बल पाचन शक्ति वालों के लिये आलू खाना मना है।

आलू पकाने की रीति पहले ही बताई जा चुकी है। उनको भाप के द्वारा गलाना सब से उत्तम है। जब उनको उबालना हो तो छिलके सहित उबालें या छिलका उतार कर उबलते हुये जल में छोड़ दे। यदि उनको छील कर उबाला जाय तो उस जल का रस तैयार कर लें। आलू के भीतर
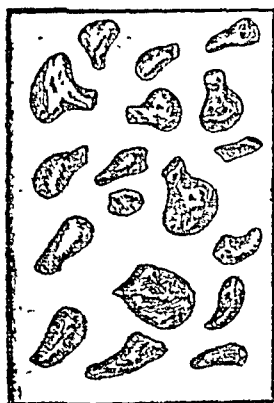
(५) अरारोट के स्टार्च के कण (६) साबूदाना के स्टार्च के कण ।

इन कणों को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखने से अन्न का पता लगाया जा सकता है ।

गाजर और चुकन्दर में कार्बोहाइड्रेट शकर के रूप में रहते हैं ; और वह गन्ने की ही शर्करा के समान होती है ।

शर्करा या चीनी शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है । यह गन्ने के रस से बनाई जाती है । हमारे शरीर के भीतर जो शर्करा पाई जाती है वह ग्लूकोज़ (Glucose) है । गन्ने की शर्करा को शरीर के पाचक रस ग्लूकोज़ में परिवर्त्तित कर देते हैं ।

शर्करा का पूर्ण शोषण होता है । यह स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तु है और सीधी ग्लूकोज़ के रूप में पेशियों में पहुँच कर उनको शक्ति देती है । तथा ग्लायकोजिन के रूप में यकृत में एकत्र रहती है ।

बहुत अधिक शर्करा खाने से मधुमेह (Diabetes) रोग हो जाता है । जिन लोगों को बैठे बैठे काम करना पड़ता है उनको शकर की थोड़ी ही मात्रा प्रयोग करनी चाहिये ।

फल—हरे फलों का प्रयोग विशेषकर उनके स्वाद, सुगन्ध, लवण और विटेमीनों के लिये किया जाता है। उनमें जल की मात्रा अधिक होती है। प्रोटीन और वसा बहुत कम होती है। कार्बोहाइड्रेट शर्करा के रूप में उपस्थित होते हैं। केले में २०% कार्बोहाइड्रेट है। अंगूर में शर्करा १० से २० प्रतिशत पाई जाती है।

फलों में विटेमीन अधिक होती है, और लवण भी होते हैं। इस कारण स्कर्वी तथा बेरी बेरी इत्यादि रोगों को दूर करने के लिये तथा शरीर की उनसे रक्षा करने के लिये फलों का प्रयोग आवश्यक है। फलों के लवण भी शरीर के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उनसे रक्त की क्षारीयता (Alkalinity) बनी रहती है। लवण प्रायः सायट्रिक, टारटरिक तथा मैलिक लवणों के रूप में रहते हैं। नींबू में सायट्रिक अम्ल होता है। नारंगी में सायट्रिक तथा मैलिक अम्ल रहते हैं।

शुष्क फल—बादाम, अख़रोट, पिस्ते इत्यादि को जाड़े के दिनों में खाया जाता है। इन फलों में पोषण शक्ति बहुत होती है जो नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जायगा।

	प्रोटीन,	वसा,	कार्बोहाइड्रेट,	लवण	जल
बादाम	२४·०	५४·०	१०·०	३·०	६·०
अख़रोट	१५·६	५१·०	१४·०	३·३	४·४
नारियल	५·०	३५·६	५·४	×	४६·६
मूँगफली	३१·०	५६·०	×	४·०	१२·०

इन अंकों से विदित होगा कि इन फलों में प्रोटीन और वसा अधिक होते हैं किन्तु कार्बोहाइड्रेट बहुत कम या नहीं होते। इस लिये इनको मांस के बराबर शक्तिदायक समझना चाहिये।

—:o:—

पीने की वस्तुयें

जन के साथ तथा उसके अतिरिक्त अनेकों वस्तुयें पीने के काम

में लाई जाती हैं। चाय, काफ़ी, कोको, शर्बत, लस्सी, लैमनेड तथा उसी भाँति के अन्य जल, तथा मद्य (Alcohol) आदि वस्तुयें पी जाती हैं। इनका प्रयोग सारे संसार में होता है।

जल—सब से मुख्य और सब से अधिक पी जाने वाली वस्तु है। वास्तव में दूसरी पीने वाली वस्तुयें जल ही में बनाई जाती हैं। प्रत्येक भोज्य पदार्थ में जल मिला रहता है। इसका कारण यही है कि स्वयं शरीर में इतना अधिक जल होने से शरीर को जल की प्रत्येक समय आवश्यकता रहती है।

जल पीने के संबंध में कोई विशेष नियम नहीं बनाया जा सकता।

जब प्यास लगे तब ही जल पीना चाहिये। प्यास शरीर की धातुओं में जल की कमी की सूचक है। किन्तु एक साथ बहुत अधिक जल न पीना चाहिये। कुछ लोगों को भोजन के साथ अधिक जल पीने की आदत होती है। ऐसा करना ठीक नहीं है। उससे आमाशय का पाचक रस पतला पड़ जाता है जिससे पाचन उत्तम नहीं होता। जल की आवश्यकता गर्मी के दिनों में अधिक होती है।

ज्वर में प्यास अधिक लगती है। उस समय रोगी जितना जल माँगे देना चाहिये। अधिक जल से हानि नहीं होती। जल न देने से हानि होती है। जल किसी भी दशा में हानि नहीं पहुँचाता।

लैमनेड, सोडावाटर, जिंजर इत्यादि—इन वस्तुओं का, विशेष कर गर्मी के मौसम में बहुत प्रयोग होता है। ये जल में कार्बन-डाई आक्साइड गैस प्रविष्ट करके तथा चीनी या सैकरीन और कुछ सुगन्धि जैसे नींबू, सन्तरा, गुलाब आदि की सुगन्धि, मिला कर बनाई जाती हैं। जिसको सोडावाटर कहा जाता है उसमें कभी कभी सोडा तनिक भी नहीं होता। केवल जल में कार्बन-डाई-आक्साइड मिली रहती है।

इन वस्तुओं से पाचन में सहायता मिलती है। वमन में इनको बरफ़ के साथ थोड़ा थोड़ा पिलाने से लाभ होता है। इनको दूध में मिला देने

हैं। इनके प्रयोग से हृदय, श्वास क्रिया तथा नाड़ी मंडल उत्तेजित ह जाते हैं। इससे श्रम दूर होता है और काम करने की शक्ति बढ़ जात है। किन्तु इनका भी अधिक प्रयोग करना हितकर नहीं है।

चाय—यह एक वृक्ष की पत्तियों को, जो हमारे देश में आसाम बिहार, नीलगिरि आदि स्थानों में तथा जापान, चीन और लंका में होत है, सुखाकर बनाई जाती है। इंगलैंड में प्रथम बार सन् १६६६ में चा का प्रयोग लार्ड ओज़री और आरलिंगटन के द्वारा किया गया था। उ समय चाय का दाम १५०) प्रति पौंड था।

चाय दो प्रकार की होती है हरी और काली। हरी चाय की पत्ति को तोड़ कर हलका सा भून दिया जाता है। काली चाय की पत्तियों को तोड़ कर १२ घंटे तक एक ढेर में पड़ा रहने देते हैं। तत्पश्चात् उनको अग्नि पर गरम किया जाता है। जिससे पत्तियों की 'टैनिन' कम हो जाती है। इस कारण हरी चाय की अपेक्षा काली चाय में टैनिन कम होती है

उत्तम चाय की जाँच यह है कि उसकी पत्तियाँ गरम जल में पड़ ही खुल जायेगी और वे सम्पूर्ण होंगी।

चाय में थोड़ी केफीन और टैनिन तथा थीन नामक वस्तुयें होती हैं केफ़ीन हृदय की उत्तेजक है। टैनिन से सिकुड़ाव उत्पन्न होता है। यदि श्लैष्मिक कला पर उसको लगा दिया जाय तो वह सिकुड़ जायगी। इ कारण वह क़ब्ज़ पैदा करती है। थीन की कोई विशेष क्रिया नहीं होती वह भी उत्तेजना में कुछ सहायता देती है।

उत्तम चाय बनाने के लिये उबलता हुआ जल चाय की पत्तियों प डाल कर बर्तन का मुँह बन्द कर देना चाहिये। दो या तीन मिनट त पत्तियाँ जल ही में पड़ी रहें। तत्पश्चात् उसको छान लिया जाय। इस में केफ़ीन, थीन और सुगन्धि तथा रंग आ जायँगे किन्तु टैनिन ना ...यगी।

...तम चाय से शरीर में स्फूर्ति आती है, विचार शक्ति बढ़ती ...त्र त्याग अधिक होने से शरीर के विष बाहर निकल जाते हैं। कि

यक चाय हानि पहुँचाती है। टैनिन के शरीर में अधिक पहुँचने से
स्रो हो जाता है।

ज काफ़ी—यह गहरे भूरे रंग का चूर्ण होता है जो 'केफ़िया ऐरेबिका'
यक वृक्ष के बीजों को पीस कर बनाया जाता है। पहिले इन बीजों को
सा जाता है जिससे उनका रंग भूरा हो जाता है। तत्पश्चात् उनको पीसा
क्रिा है। इसमें केफ़ीन १·२१, टैनिन ३२·६४, शर्करा या डैक्सट्रिन ८·५५,
.ट्रोजन युक्त पदार्थ १२·०७ और जल १६·२३ प्रतिशत होते हैं। इस
मितर इसमें कुछ पोषक शक्ति भी होती है।
दूस एक प्याले उबलते हुये जल में ½ छटाँक काफ़ी का चूर्ण मिलाना
भाहिये। दूध और चीनी इच्छानुसार मिलाये जाते हैं। काफ़ी नाड़ी मंडल
उत्तेजित करती है जिसके कारण शरीर में स्फूर्ति मालूम होती है और
जाता करने की इच्छा होती है। किन्तु बहुत अधिक प्रयोग से नाड़ी मंडल
औरुत हो जाता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और नींद आना कम
मिलजाता है।

मिला कोको—इसका प्रयोग भी बहुत किया जाता है। हमारे देश में
निकफ़ो मद्रास में अधिक लोग पीते हैं। यह 'थियोब्रोमा कोकोआ' नामक
पोपक के बीजों को पीसकर बनाया जाता है। इसके चूर्ण में वसा २०%
: स्टार्च १०%, होता है। साथ में 'थियोब्रोमीन' होती है। इस कारण
है। ं काफ़ी की अपेक्षा अधिक पोषक शक्ति है। किन्तु उत्तेजना इतनी
या ऐरें होती।

इनमें १ मद्य या शराब—इसको चीनी से बनाया जाता है, विशेषकर अंगूर
गवीनी से। यदि चीनी या गुड़ को जल में घोल कर उसमें थोड़ा सा
पहुँचती, जिसको ख़मीर कहा जाता है, मिला कर थोड़े दिन तक रख दिया
यसन्न ह तो चीनी या गुड़ के शरबत में एक विशेष रासायनिक क्रिया होने
उसमें नी है जिसको फ़र्मेंटेशन (Fermentation) कहते हैं। शर्करा
नी अल्कोहल और कार्बन-डाई-आक्साइड के रूप में परिवर्तित होने लगती
चाकार्बन-डाई-आक्साइड गैस तो उड़ जाती है और अलकोहल रह जाता
गोजन न

है। साधारण स्टार्च से भी इसी प्रकार अलकोहल बन जाता है। किन्तु स्टार्च को पहिले सल्फ़ुरिक एसिड के साथ उबालना पड़ता है जिससे प्रथम डैक्सट्रिन बनती और वह शकर में परिवर्त्तित हो जाती है। जौ से भी शराब इसी प्रकार बनाई जाती है।

भिन्न-भिन्न शरावें भिन्न-भिन्न फलों के रस तथा अन्न के दानों से बनाई जाती हैं। अलकोहल के अतिरिक्त कुछ और रासायनिक पदार्थ भी उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे उत्तेजना होती है। किन्तु वे शरीर को हानि पहुँचाते हैं।

शराब कई प्रकार की होती है और कितने ही नामों से बाज़ार में बिकती है। सब फ़र्मैन्टेशन द्वारा तैयार होती हैं। कुछ को भपके के द्वारा स्रवण करके बनाया जाता है। इस कारण उनमें अलकोहल की मात्रा भिन्न-भिन्न रहती है।

निम्नलिखित शराबों में, जिनका अधिकतर प्रयोग किया जाता है, अलकोहल की मात्रा उनके सामने लिखी गई है।

ब्रान्डी	५५%	व्हिस्की	५४%
रम	५३%	शैरी	२३%
पोर्ट	२२%	बीयर	३%

अलकोहल का शरीर पर प्रभाव—संसार के सब ही भागों में शराब का प्रयोग होता है। हमारे देश में भी सदा से होता आया है। वहुतेरे धनी लोग विलायती शरावों में अपना रुपया बर्बाद करते हैं। नीची जाति के ग़रीब लोग देशी शराब को पीकर अपना जीवन नष्ट करते हैं।

थोड़ी मात्रा में अलकोहल एक उत्तेजक औषधि की भाँति काम करता है और शक्ति उत्पन्न करने में सहायता देता है। जब अलकोहल मुख में पहुँचता है तो मौखिक रस (Saliva) अधिक बनने लगता है। आमाशय में पहुँचने पर वहाँ की श्लैष्मिक कला (Mucous Membrane)

होने लगती है। सैत्रिक धातु (Fibrous Tissue) बढ़ जाती है जिससे रक्त नलिकायें संकुचित हो जाती हैं और अन्त को नष्ट हो जाती हैं।

शराब के अधिक प्रयोग के प्रभाव से शरीर के दूसरे अंग भी नहीं बच पाते। मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है, नाड़ी मंडल भी विकृत हो जाती है। पागलख़ानों में ऐसे पागलों की बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है जो शराब के कारण पागल हुये हैं। हृदय की पेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं और धड़कन होने लगती है। वृक्कों में भी शोथ हो जाता है जिससे शरीर के विष बाहर नहीं निकल पाते।

अलकोहल से पेशियों की शक्ति बढ़ जाती है, यह धारणा बिल्कुल निर्मूल है। यह भली भाँति प्रमाणित हो चुका है कि शराब के प्रभाव से पेशियों की काम करने की शक्ति कम हो जाती है। लड़ाई के दिनों में लार्ड रावर्ट और लार्ड किचनर अपने सिपाहियों को शराब नहीं देते थे। बिना शराब पिये सिपाही जितना लड़ सकते हैं उतना शराब पीकर नहीं। प्रत्येक व्यक्ति बिना शराब के अधिक काम कर सकता है।

शराब का प्रयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से बिल्कुल अनावश्यक और अक्षम्य है। स्वास्थ्य को उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचता। थोड़ी मात्रा के प्रयोग से चाहे उससे किसी प्रकार की हानि न पहुँचे; किन्तु पीने वाले अपने को थोड़ी मात्रा पर परिमित नहीं रखते। असंख्य उदाहरण देखे जाते हैं जहाँ युवक थोड़ी सी मात्रा से प्रारंभ करके बोतलों पर बोतल उड़ाने लगते हैं और अपने शरीर, धन तथा परिवार की मान-मर्य्यादा को नष्ट करके पथ के भिखारी तथा मृत्यु के ग्रास बनते हैं। शराब पीना सामाजिक पाप है जिसका प्रभाव न केवल स्वयं अपने तथा वर्त्तमान समाज पर पड़ता है; किन्तु भावी सन्तति भी उसके दुष्परिणामों से नहीं बचती।

अलकोहल का प्रयोग औषधियों में तथा औषधि की भाँति डाक्टरों द्वारा बहुत किया जाता है। उचित समय पर यह अत्यन्त उत्तम औषध है। किन्तु उसके अतिरिक्त इसका प्रयोग सर्वथा वर्जनीय है।

से यकृत का बढ़ना, मन्दाग्नि, पेचिश तथा अंतड़ियों के रोग उत्पन्न होते हैं।

भोजन की कमी से इतने रोग नहीं उत्पन्न होते। किन्तु यदि बहुत समय तक पर्याप्त भोजन नहीं मिलता, तो शरीर कृश होने लगता है, पेशियों का क्षय आरंभ हो जाता है और शरीर का बल नष्ट होने लगता है। शरीर भार भी घटने लगता है। यदि शरीर भार ४० प्रतिशत घट जाय, अर्थात् यदि २ मन का व्यक्ति घट कर १ मन ८ सेर रह जाय तो मृत्यु अवश्य हो जायगी। भोजन की कमी से शरीर में कुछ विष बनने लगते हैं, जिनसे ज्वर, सिर दर्द, वमन, और दुर्बलता मालूम होने लगती है। यदि ऐसी दशा बहुत समय तक रहे तो फिर से पर्याप्त भोजन देने से भी दशा नहीं सुधरती और अन्त को मृत्यु हो जाती है।

वसा और कार्बोहाइड्रेट की कमी से भी शरीर कृश होने लगता है और पेशियाँ दुर्बल तथा सूख जाती हैं। वसा को अधिक मात्रा में देने से कार्बोहाइड्रेट की कमी को कुछ समय तक सहन किया जा सकता है। प्रोटीन की कमी से पेशी दुर्बल हो जाती है तथा मस्तिष्क की विचार शक्ति भी कम हो जाती है। ज्वर रहने लगता है, दुर्बलता बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि मृत्यु हो सकती है।

भोज्य पदार्थों द्वारा जिन रोगों के जीवाणु शरीर में पहुँच जाते हैं वही रोग उत्पन्न हो जाते हैं। हैज़े, मोती झरे, पेचिश (आँव, ख़ून के दस्त) पतले दस्तों इत्यादि के जीवाणु सदा भोज्य पदार्थों तथा जल के द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। ये जीवाणु मक्खियों द्वारा भोजन में पहुँचते हैं। इस कारण मक्खियों से सुरक्षित जाली की आलमारियों में भोजन रखना चाहिये।

रिकेट्स, स्कर्वी, बेरी बेरी, डायबिटीज़ (Diabetes) और गठिया रोगों का भोजन से विशेष संबंध है।

प्रश्न

१—भोजन का क्या प्रयोजन है? उससे शरीर को क्या लाभ पहुँचता है?

२—भोज्य पदार्थों में कौन कौन से विशिष्ट अवयव पाये जाते हैं? प्रत्येक अवयव के कार्य का संक्षिप्त विवरण लिखो और बताओ कि वे किन पदार्थों में विशेष मात्रा में पाये जाते हैं?

३—विटामीन किन पदार्थों को कहते हैं? उनका शरीर पर क्या प्रभाव होता है? कै प्रकार की विटेमीन होती हैं और वे किन पदार्थों में पाई जाती हैं? प्रत्येक विटेमीन का शरीर में कार्य बताओ।

४—साधारणतया शरीर के लिये कितना भोजन आवश्यक है? भोजन की मात्रा किन किन बातों पर निर्भर करती है? १० वर्ष के बालक और ६५ वर्ष के वृद्ध के भोजन में क्या अन्तर होना चाहिये?

५—भोजन को पकाने से क्या लाभ है? पकाने में किस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये?

६—दूध क्यों उत्तम भोजन है? बच्चे और बालकों के लिये इसको क्यों विशेषतया हितकर समझा जाता है?

७—दूध को किस प्रकार उबालना चाहिये जिससे उसके पोषक द्रव्यों का नाश न हो। किस प्रकार छः मास के बच्चे के पीने के लिये गौ का दूध उपयुक्त बनाया जा सकता है? दही और दूध के पाचन में क्या अन्तर है?

८—मांस में क्या गुण है? दूषित मांस से कौन से रोग फैलते हैं?

९—शाकाहार में शाकों का विशेष महत्व क्यों है? तथा शाकाहारियों के लिये शाकों का क्या विशेष प्रयोजन है?

१०—स्टार्च के कणों का किस प्रकार पाचन होता है? भिन्न भिन्न स्टार्च कणों का चित्र खींचो।

११—गर्मियों में कौन कौन सी वस्तुओं का पीने के लिये अधिक प्रयोग किया जाता है? उनसे क्या लाभ होता है?

१२—मद्य का शरीर के अवयवों पर क्या प्रभाव होता है? अधिक भोजन से शरीर को क्या हानि होती है?

शारीरिक स्वच्छता

यह प्राचीन कहावत है कि 'शरीरम् खलु धर्म साधनम्'। संसार में जितने कर्म हैं तथा धर्म, अर्थ, काम मोक्ष सबों की प्राप्ति शरीर ही के द्वारा होती है। यदि शरीर रोग से रहित और बलिष्ट होता है तो वह इन फलों की प्राप्ति में तत्पर हो सकता है। किन्तु शरीर के अस्वस्थ तथा रोग ग्रस्त होने पर उसके द्वारा कुछ भी नहीं किया जा सकता। शरीर का स्वास्थ्य प्रत्येक अंग को स्वच्छ रखने तथा समय से भोजन करने, व्यायाम, निद्रा, आचार, विचार तथा अपने को रोगोत्पादक कारणों से दूर रखने पर निर्भर करता है। अतएव इन सब बातों का हम यहाँ पर कुछ विचार करेंगे।

आदत—सब से मुख्य मनुष्य की आदत है। एक बार जैसी आदत बन जाती है वह अन्त तक नहीं छूटती। जीवन की सफलता इन्हीं आदतों पर निर्भर करती है। आदतें बनने की यही स्कूल की अवस्था होती है। इस कारण प्रारंभ ही से उत्तम आदतें डालनी चाहिये। शरीर के प्रत्येक भाग को स्वच्छ रखने की आदत होनी चाहिये। प्रातः काल शौच के पश्चात् दातुन या ब्रुश से दाँतों को तथा मुँह को स्वच्छ रखने की आदत डाल लेनी चाहिये। इसी प्रकार स्नान करने की आदत होनी चाहिये। एक बार आदत डाल लेने से यह सब कर्म स्वयं ही अपने आप हो जावेंगे। उनको करने के लिये कोई प्रयत्न न करना पड़ेगा। जिनकी आदत हो जाती है वे स्नान किये बिना भोजन कर ही नहीं सकते। प्रातःकाल जब तक मुख की शुद्धि नहीं हो जाती तब तक वे कुछ भी नहीं खा सकते। इसी प्रकार वस्त्रों को स्वच्छ रखना, कमरे को स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखना, व्यायाम करना, उचित समय पर सोना इत्यादि सब की आदत बना लेनी चाहिये। प्रारंभ में कुछ समय

जमा हो जाता है। यह मैल चर्म के छिद्रों को बन्द कर देता है जिससे उन छिद्रों द्वारा शरीर के भीतर उत्पन्न हुये विष बाहर नहीं निकल पाते। केवल यही नहीं, वरन् इस परत में रोगों के जीवाणु पहुँच जाते हैं। जुवें बहुधा इस मैल में ही उत्पन्न होती हैं। इसी कारण जुवें प्रायः उन्हीं लोगों के शरीरों में पाई जाती हैं जो नित्य प्रति स्नान नहीं करते। जाड़े के दिनों में पहिनने के वस्त्र भी जल्दी नहीं बदले जाते। इन सब कारणों से जूं उत्पन्न हो जाती हैं। न केवल यही, दाद, खाज, छोटी-छोटी फुंसी इत्यादि भी इस मैल से उत्पन्न हो जाती हैं। इस मैल के परत के कारण चर्म के द्वारा आक्सीजन भी भीतर नहीं जा सकती और न भीतर की कार्बन-डाई-आक्साइड ही बाहर निकल सकती है। इस कारण फुस्फुस और वृक्क दोनों को अधिक काम करना पड़ता है।

इस परत की, जिसमें शरीर से निकला हुआ कुछ तैलीय पदार्थ, चर्म के तैल तथा वस्त्रों के धागे इत्यादि मिले होते हैं, हटाना बहुत आवश्यक है। इसमें तैल उपस्थित होने के कारण यह केवल तैल से नहीं हटाया जा सकता। साबुन से यह घुल जाता है और तब जल से, विशेष कर गरम जल से स्नान करने से दूर हो जाता है और चर्म स्वच्छ हो जाता है। किन्तु साबुन उत्तम प्रकार का होना चाहिये। जिस साबुन में क्षार (Alkali) अधिक होता है उससे चर्म को हानि पहुँचती है। ग्लिसरिन साबुन चर्म के लिये उत्तम होते हैं। सस्ते साबुन जिनसे वस्त्र धोये जाते हैं शरीर स्वच्छ करने के लिये उपयुक्त नहीं होते।

स्नान—शरीर के चर्म की स्वच्छता के लिये नित्य प्रति कम से कम एक बार स्नान करना आवश्यक है। गर्मी के मौसम में शरीर से पसीना बहुत निकलता है जिससे मैल भी अधिक जमा होता है। इस कारण दो बार स्नान करना आवश्यक है। स्नान से न केवल मैल ही दूर होता है किन्तु शरीर में स्फूर्ति आती है और चर्म में रक्त का संचार होता है; आलस्य दूर होता है और काम करने में चित्त लगता है।

स्नान करने का सब से उत्तम समय प्रातःकाल है। शौच इत्यादि के पश्चात् प्रातःकाल स्नान कर लेने से शरीर हलका और चित्त प्रसन्न हो जाता है। कुछ लोगों को ९ या १० बजे स्नान करने का अभ्यास होता है। पाश्चात्य देशों में संध्याकाल या रात्रि को सोते समय गरम जल से स्नान करने की प्रथा प्रचलित है। हमारे देश में भी कुछ लोग ऐसा
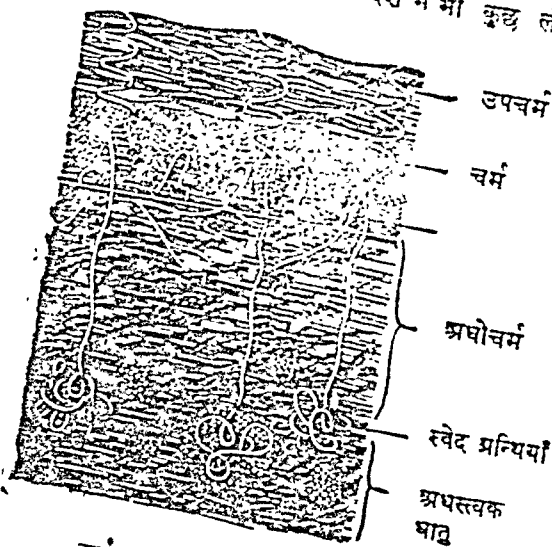
चर्म का परिच्छेद—चित्र १७

करते हैं। इससे यह लाभ है कि दिन भर के परिश्रम से शरीर पर जमा हुआ मैल दूर हो जाता है और निद्रा खूब आती है। किसी समय भी स्नान किया जावे, चौबीस घंटे में एक बार स्नान करना आवश्यक है। किन्तु भोजन के पश्चात् तुरंत ही स्नान करने से हानि होती है।

स्नान करने के माने शरीर पर केवल दो लोटे जल डाल लेना नहीं है। स्नान करने का प्रयोजन शरीर पर के मैल को दूर करना तथा

चर्म में रक्त का अधिक संचार करना है। इस कारण साबुन का प्रयोग तथा स्नान करते समय शरीर की मालिश आवश्यक है।

स्नान ठंढे और गरम जल दोनों से किया जाता है। हमारे देश में केवल तीन या चार महीने गरम जल की आवश्यकता होती है। किन्तु कुछ लोगों को बारहों मास गरम जल से स्नान करने की आदत होती है। कुछ लोग बारहों मास ठंढे अथवा ताज़ा जल से स्नान करते हैं।

हमारी सम्मति में ठंढे अथवा ताज़ा जल के स्नान से अधिक लाभ होता है। मैल दूर करने में गरम जल अवश्य अधिक काम करता है, किन्तु ठंढे जल से शरीर में अधिक स्फूर्ति आती है, भीतरी अंगों को रक्त अधिक पहुँचता है। चर्म की रक्त नलिकायें संकुचित हो जाती हैं जिनसे उनका रक्त भीतर चला जाता है। किन्तु स्नान के पश्चात् वे फिर फैल जाती हैं जिससे उनमें फिर से नया रक्त दौड़ने लगता है। इससे शरीर में गरमी आ जाती है। गरम जल से स्नान के पीछे सरदी मालूम होती है।

दुर्बल, वृद्ध, बच्चे तथा रोग से उठे हुये व्यक्तियों को गरम जल ही से स्नान करना चाहिये। युवावस्था वालों को ठण्ढे जल में स्नान करने की आदत डालनी चाहिये।

शौच—प्रातःकाल सोकर उठते ही शौच को जाना चाहिये। यह एक आदत बना लेनी चाहिये। शौच उसी समय होता है जिस समय की आदत पड़ी होती है। उस समय के टल जाने से शौच स्वच्छ नहीं होता। इस कारण इच्छा होते ही तुरन्त शौच जाना चाहिये। प्रायः लोग दो बार शौच जाते हैं। एक बार प्रातः काल और दूसरी बार संध्या समय। यह समय विभाग उपयुक्त है।

आज कल प्रायः स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों में क़ब्ज (Constipation) का रोग रहता है। मल-त्याग पूर्ण नहीं होता। या तो दो बार के स्थान पर एक बार होता है या कम होता है। इससे

उत्पन्न हो जाती है, जिससे मन्दाग्नि, क़ब्ज, अरुचि इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

मुँह के शुद्ध रखना अत्यन्त सहज है। उसके लिये प्रत्येक बार भोजन करने के पश्चात् मुँह के भली भाँति कुल्ले करके स्वच्छ कर देना पर्य्याप्त है। मुँह में किसी भोज्य पदार्थ के भरे रहने से भी उसमें अशुद्धि उत्पन्न होती है। इस कारण मुँह में पान भरे रहना भी हानिकारक है।

प्रातः सायं तथा प्रत्येक बार भोजन के पश्चात् अथवा जब भी कुछ खाया या पिया जाय तब ही कुल्ले कर के मुँह के स्वच्छ कर देना चाहिये। जल में थोड़ा सा नमक – आध सेर जल में एक चुटकी भर—घोल देने से उसकी मुख को शुद्ध करने की शक्ति और भी बढ़ जाती है।

दाँतों के शुद्ध करने के लिये बुरुश की अपेक्षा दाँतुन उत्तम होती है। किन्तु दाँतुन उत्तम प्रकार से बनानी चाहिये। उसके आगे के भाग के भली भाँति चबा कर बहुत बारीक़ बुरुश बना लेना आवश्यक है। यदि बुरुश बारीक न बना तो मोटे रेशों से मसूड़े छिल जायँगे और उनको हानि पहुँचेगी। प्रायः नीम और कीकड़ की दाँतुन बनाई जाती है। कीकड़ की दाँतुन का बुरुश उत्तम बनता है। नीम में मुँह के कीड़ों के मारने की शक्ति होती है।

यदि बुरुश का प्रयोग किया जाय तो उसको स्वच्छ रखना बहुत आवश्यक है। वह सदा किसी कीड़े मारने वाली वस्तु, जैसे कारबोलिक एसिड के जल में मिला कर उसमें रखना चाहिये। बुरुश बहुत कड़ा न हो, नहीं तो उससे मसूड़े छिल जायँगे और दाँत के ऊपर का परत, जो अनेमल का होता है, घिस जायगा। बुरुश के साथ कोई उत्तम मंजन या टूथ पेस्ट का प्रयोग करना चाहिये।

यदि दाँत पूर्णतया स्वच्छ हों और मुँह के शुद्ध रखने का पूर्ण ध्यान रखा जाय तो दाँतों की शुद्धि के लिये केवल नमक के उँगली से दाँतों पर रगड़ कर कुल्ला कर डालना पर्याप्त है।

यदि दाँतों पर मैल, जिसको टारटार कहते हैं, जम जाय, तो किसी डैन्टिस्ट से उनको साफ़ करवाना चाहिये।

दाँतों को स्वच्छ करते समय उनको बाहर और भीतर दोनों ओर से स्वच्छ किया जाय।

नख—नाखून को सदा काटते रहना आवश्यक है। उनके बढ़ जाने पर उनके नीचे मैल जमा हो जाता है जो भोजन के साथ शरीर में जाता रहता है। नाखूनों को स्वच्छ रखना चाहिये।

बाल—सप्ताह में कम से कम एक बार सिर को साबुन या रीठों से साफ़ करना चाहिये। सिर पर बालों के नीचे तेल के साथ धूल इत्यादि के मिलने से मैल जमा हो जाता है जिसको केवल साबुन, रीठे या बेसन से हटाया जा सकता है। साफ़ करते समय अँगुली से सिर के चर्म को भली भाँति रगड़ना उचित है।

बालों को साबुन से स्वच्छ करके उनमें तेल लगाना चाहिये। उसके पश्चात् सिर को जल से धो डालना चाहिये। इस प्रकार बालों को स्वच्छ करके कंघे से उनको ठीक कर लेना उचित है। कंघा करने से सिर का मैल भी निकल जाता है और बाल भी सुन्दर दीखने लगते हैं। कंघा करते समय बालों को अँगुलियों के बीच में पकड़ कर थोड़ा सा इधर उधर को खींचना चाहिये। इससे बालों की जड़ें मज़बूत होती हैं।

नेत्र—नेत्रों को स्वच्छ रखना और उनकी रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। ये मनुष्य के शरीर के अत्यन्त कोमल और आवश्यक अंग हैं। इनके न रहने से मनुष्य के लिये सारा संसार अंधकारमय और जीवन भार हो जाता है।

नेत्रों के रोग प्रायः धूल आदि के पड़ने और दूसरे रोगियों से रोगों के जीवाणुओं के नेत्रों में पहुँचने पर उत्पन्न होते हैं। आँखों का दुखना, रोहे (Granular lids), पलकों की सूजन आदि इसी प्रकार उत्पन्न । अँधेरे या धीमे प्रकाश में पढ़ने से नेत्र कमज़ोर होते हैं।

बहुत से विद्यार्थियों को दूर की वस्तु देखने के लिये जो चश्मा लगाना पड़ता है उसका कारण उनका बहुत समय तक धीमे प्रकाश में पढ़ना, या बहुत छोटे अक्षरों की किताबों को पढ़ना होता है। जब प्रकाश काफ़ी नहीं होता या अक्षर बहुत छोटे होते हैं तो उनको पढ़ने में नेत्रों पर बहुत ज़ोर पड़ता है। इस कारण नेत्र दुर्बल हो जाते हैं और चश्मे की आवश्यकता होती है।

पढ़ने के लिये प्रकाश पर्याप्त होना चाहिये। पर्याप्त का यह अर्थ है कि पुस्तक को नेत्रों से अठारह इंच की दूरी पर रखने से उसको पढ़ने में नेत्रों पर तनिक भी ज़ोर न पड़े। अक्षर भली भाँति स्पष्टतया दीखें। यदि अक्षरों को देखने में आँखों पर भार पड़े, प्रयत्न करना पड़े, तो समझना चाहिये कि प्रकाश काफ़ी नहीं है।

पढ़ते समय सीधे पीछे की ओर तन कर, जिससे सिर ऊपर को रहे, बैठना चाहिये। आगे की ओर झुक कर बैठना अनुचित है। लम्प इस प्रकार रखना चाहिये कि प्रकाश पुस्तक पर तो पड़े, किन्तु नेत्रों पर न पड़े। नेत्र और पुस्तकों के बीच १८ इंच का अन्तर अवश्य रहना चाहिये।

जिन विद्यार्थियों के नेत्र दुर्बल हों, जिनको क्लास के ब्लैक बोर्ड पर लिखे हुये अक्षर स्पष्ट न दिखाई दें, उनको तुरन्त किसी नेत्रों के विशेषज्ञ डाक्टर से मिल कर उसकी सलाह से चश्मा लेना चाहिये। आवश्यकता होने पर चश्मा न लगाने से उतनी ही हानि होती है जितनी कि आवश्यकता न होने पर लगाने से। आवश्यकता होते ही चश्मा लगा लेने से दृष्टि वैसी ही बनी रहती है। कुछ लोगों की दृष्टि उन्नत हो जाती है और कुछ समय पश्चात् कम नंबर का चश्मा लगता है। किन्तु चश्मा न लगाने से दृष्टि बराबर गिरती ही जाती है।

नेत्रों को स्वच्छ रखना और धूल और धूप से बचाना भी बहुत आवश्यक है। उनको स्वच्छ रखना बहुत सहज है। नित्य प्रातः काल

शुद्ध ठंढे जल से उनको धोना पर्याप्त है। भली भाँति धोने से उनमें पड़ी हुई धूल या गन्दगी निकल जाती है। नेत्रों को धोने के लिये काँच के विशेष बने हुये पात्र आते हैं। इनको Eye Bath Glass कहते हैं। इनमें जल भर कर पलकों को चौड़ा कर नेत्र के डेलों पर लगाकर दो चार बार ऊपर नीचे को करना चाहिये। इससे नेत्र के सब भाग स्वच्छ हो जाते हैं।

यदि नेत्र मैले हों, उनसे कीचड़ आती हो, अथवा उनमें हल्की सी लाली हो तो गुलाब जल अथवा जल में फिटकरी घोल (आधे छटाँक जल में ५ रत्ती) कर उससे नेत्रों को धोना चाहिये। त्रिफले का जल भी बहुत लाभ करता है। यदि नेत्रों में अधिक ख़राबी हो तो किसी नेत्रों के डाक्टर की सलाह लेनी चाहिये।

नेत्रों को धूल और गर्द से बहुत हानि पहुँचती है। 'आँख दुखने' का रोग एक से दूसरे को होता है। इसलिये जिनको यह रोग हो उनके पास न बैठना चाहिये।

नेत्रों में कोई भी रोग होते ही किसी उत्तम डाक्टर को नेत्र दिखाने चाहिये और उसकी सलाह से चिकित्सा करनी चाहिये।

व्यायाम—स्वास्थ्य को उत्तम दशा में रखने के लिये व्यायाम बहुत आवश्यक है। व्यायाम करने से शरीर की सब पेशियाँ क्रिया करती हैं। उनमें संकोच और विस्तार होता है। इससे उनको क्रिया करने की आदत हो जाती है। उनमें रक्त का संचार अधिक होता है और वे बलवान हो जाती हैं। इस से शरीर बलिष्ठ होता है। उसमें अधिक परिश्रम करने की शक्ति आ जाती है।

व्यायाम से न केवल माँस पेशियों ही को लाभ होता है किन्तु जितने भी शरीर के अंग हैं उन सबों पर प्रभाव पड़ता है।

रक्त-वाहक संस्थान—(Circulatory System) व्यायाम के समय हृदय की गति बढ़ जाती है। हृदय की पेशियों को अधिक काम

करना पड़ता है। इससे वे बलवान हो जाती हैं और काम पड़ने पर अधिक काम कर सकती हैं। जो व्यक्ति व्यायाम नहीं करता उसके हृदय की पेशियों में यह अकस्मात् अधिक काम करने की शक्ति नहीं आती और न वे बलवान ही होती हैं। किन्तु जो बहुत अधिक व्यायाम करते हैं अथवा हृदय को अभ्यस्त किये बिना अकस्मात् अत्यधिक व्यायाम कर डालते हैं उनके हृदय की पेशी दुर्बल हो जाती हैं।

२ **श्वास संस्थान**—(Respiratory System) व्यायाम के समय श्वास के जल्दी जल्दी आने के कारण, भीतर से अधिक कार्बन-डाई-आक्साइड बाहर निकलती है और आक्सीजन भी भीतर अधिक जाती है। फुस्फुस में वायु-ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती है और वस्ति की पेशियों की शक्ति भी बढ़ जाती है।

३ **मूत्र वाहक संस्थान**—(Urinary System) वृक्क में रक्त के अधिक पहुँचने से उसके सारे विष वृक्क द्वारा पृथक् हो कर मूत्र के साथ निकल जाते हैं और शरीर शुद्ध हो जाता है।

४ **नाड़ी संस्थान**—(Nervous System) व्यायाम से मस्तिष्क में भी रक्त अधिक पहुँचता है। जो लोग विचार संबंधी काम अधिक करते हैं उनको व्यायाम अवश्य करना चाहिये। जब अधिक पढ़ने या विचारने से मस्तिष्क थक जाय तो व्यायाम करने से मस्तिष्क के श्रमित केन्द्र को विश्राम मिल जाता है और दूसरे केन्द्र काम करने लगते हैं।

५ **पाचक संस्थान**—(Digestive System) उदर की पेशियाँ बलवान होती हैं। अंत्रियों की गति उत्तम होती है, जिससे क़ब्ज दूर होता है, भूख अधिक लगती है और शरीर में बल आता है।

६ **पेशी संस्थान**—(Muscular System) इसका पहिले ही वर्णन किया जा चुका है।

चर्म—चर्म की रक्त नलिकायें प्रसरित हो जाती हैं; पसीना अधिक निकलने से शरीर से विषों का त्याग होता है।

इस प्रकार शरीर के सब अंगों को लाभ होता है।

व्यायाम के संबंध में निम्नलिखित नियमों का यथासंभव पालन करना चाहिये :—

(१) व्यायाम खुले स्थान में करना चाहिये जहाँ वायु भली भाँति आती हो। यदि कमरे के भीतर व्यायाम किया जाय तो चारों ओर की खिड़कियाँ और दरवाज़ों को खोल देना चाहिये।

(२) व्यायाम नित्य प्रति और नियत समय पर करना चाहिये। व्यायाम के पश्चात् कुछ समय तक विश्राम करना चाहिये।

(३) व्यायाम में एक विशेष क्रम होना चाहिये और व्यायाम करते समय व्यायाम के प्रभाव को तथा जो पेशी विशेष काम करें उन पर ध्यान रखना चाहिये।

(४) व्यायाम इतना करना चाहिये कि उससे हलका सा श्रम हो। अधिक श्रम उत्पन्न होने से हानि होती है। व्यायाम की मात्रा धीरे धीरे नित्य प्रति थोड़ी थोड़ी बढ़ाई जा सकती है। इससे शरीर को अभ्यास हो जायगा। एक साथ अधिक व्यायाम करना, जिससे शरीर थक कर चूर हो जाय, हानिकारक है।

जो लोग विचार संबंधी कार्य अधिक करते हैं उनको ऐसे व्यायाम करने चाहिये जिनसे मनोरंजन भी हो, जैसे टेनिस, फुटबाल, नाव खेना, घोड़े की सवारी करना इत्यादि। वृद्धावस्था में टहलना उपयुक्त है।

निद्रा या विश्राम—निद्राकाल वह है जब दिन भर के परिश्रम के पश्चात् शरीर पूर्ण विश्राम लेता है और परिश्रम से उसके सेलों (Cells) में जो क्षति हुई है उसकी पूर्त्ति करता है। तो भी उस समय भी उसके कई अंग बराबर काम करते रहते हैं। हृदय चलता ही रहता है। श्वास संबंधी अंग अपना काम करते ही रहते हैं। मस्तिष्क के कुछ केन्द्र भी पूर्ववत् चालू रहते हैं।

स्वास्थ्य के लिये पर्याप्त निद्रा बहुत ही आवश्यक है। नींद न आना रोग का लक्षण है।

सोने का उचित समय रात्रि ही है। दिन काम करने के लिये और रात्रि सोने के लिये है। गरमी के दिनों में दोपहर को भी प्रायः लोग सोते हैं। जिन लोगों का ऐसा व्यवसाय है कि उनको प्रातः काल ही से काम प्रारम्भ करना पड़ता है उनको दोपहर को भोजन के पश्चात् कुछ समय के लिये विश्राम करना उचित है।

भिन्न भिन्न आयु में निद्रा काल में भी भिन्नता पाई जाती है। प्रायः निम्नलिखित निद्रा काल पर्याप्त समझा जाता है :—

शिशुकाल में २४ घंटे में २२ से १६ घंटे निद्रा

२ वर्ष के बच्चे के लिये	१४ घंटे
४ ,, ,,	१२ ,,
७ ,, ,,	११ ,,
६ वर्ष की आयु वालों के लिये	१०½ ,,
१४ ,, ,,	१० ,,
१६ ,, ,,	६ ,,
१८ ,, ,,	८½ ,,
२१—५० वर्ष ,,	८ ,,

आवश्यकतानुसार इसमें घटा बढ़ी हो सकती है। युवावस्था के लिये ८ घंटे की नींद पर्याप्त समझी जाती है। इससे अधिक नींद भी उचित नहीं है।

सोने के पूर्व अत्यन्त कड़ा परिश्रम न करना चाहिये। ऐसा करने से उत्तम नींद नहीं आती, और न भर पेट भोजन करके तुरन्त ही सोना चाहिये। इन दोनों कारणों से गाढ़ी नींद नहीं आती, और उससे बदहज़मी हो जाती है।

निद्रा बराबर एक सी गाढ़ी नहीं होती। सोने के एक घंटे पश्चात् से लेकर रात्रि को १ या २ बजे तक गाढ़ी नींद आती है। तत्पश्चात् हल्की हो जाती है।

सदा कमरे की खिड़कियाँ खोल कर सोना चाहिये। मुँह ढक कर सोना बहुत बुरी आदत है। इससे शरीर को शुद्ध वायु नहीं मिलती जिससे फुस्फुस के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

दो व्यक्तियों का एक साथ एक बिस्तर पर सोना उचित नहीं है।

सोने की शय्या कुछ कठिन होनी चाहिये। यदि तख़्त पर सोया जाय तो उस पर मोटा गद्दा होना चाहिये। गद्दे पर की चादर तथा तकियों के गिलाफ़ स्वच्छ होने चाहिये। बिस्तरों को सप्ताह में दो बार धूप में सुखाना उचित है। लोहे का पलंग जो लोहे के तारों से या लोहे की पत्तियों से बुना हो अत्युत्तम है। यदि निवाड़ का पलंग हो तो समय समय पर निवाड़ को खुलवा कर उसको उबलवाना और सुखाना चाहिये। मूँज या सुतली से पलंग बुनना ठीक नहीं हैं। उनमें खटमल हो जानेपर उनको खोला नहीं जा सकता।

भूमि पर सोना उचित नहीं। भूमि में सील होने से गठिया हो जाने का डर रहता है।

वस्त्र—वस्त्र पहिनने के दो प्रयोजन हैं—शरीर की ताप और ठंढ से रक्षा करना और दूसरे शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाना। इस कारण वस्त्र ऐसे होने चाहिये जो इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्त्ति करें। गरमी के मौसम के वस्त्र इस प्रकार के हों जिनके द्वारा ताप का पूर्ण विसर्जन होता रहे अर्थात् ताप निकलता रहे, और जो स्वयं ताप का शोषण न करें, जिनके द्वारा पसीना भी बराबर सूखता रहे। जाड़े में ऐसे वस्त्रों की आवश्यकता है जिनके द्वारा शरीर के ताप का विसर्जन न होने पावे, और बाहर की ठंढ भी उनके द्वारा शरीर तक न पहुँच सके। ऐसे पदार्थ Bad Conductors of Heat कहलाते हैं। इस कारण जाड़ों में ऊनी वस्त्र पहिने जाते हैं।

प्रायः वस्त्र ऊन, रेशम, रुई और सन के बनाये जाते हैं। जहाँ ठंढ अधिक पड़ती है वहाँ चमड़े और रबड़ के भी वस्त्र प्रयोग किये जाते हैं। ऊन, रेशम, चमड़ा और रबड़ ताप के उत्तम संवाहक नहीं हैं। इस कारण वे शरीर के ताप का विसर्जन नहीं होने देते; किन्तु रेशम इतना बारीक बुना जाता है कि वह गरमी के दिनों में भी कोई कष्ट नहीं देता। ऊन के वस्त्रों में छोटे छोटे छिद्र होते हैं जिनमें वायु भरी रहती है। वायु भी ताप की उत्तम संवाहक (Good Conductor) नहीं है। इस कारण वस्त्रों के भीतर की वायु भी शारीरिक ताप की रक्षा करती है। इसी कारण ढीले वस्त्र तंग वस्त्रों की अपेक्षा अधिक गरम होते हैं। शरीर चर्म और वस्त्र के बीच जो वायु का परत रहता है वह स्वय ऊनी वस्त्र की भाँति काम करता है।

ऊन में पसीना तथा गीलापन सोखने का भी गुण होता है। इस कारण उसको ऊपरी वस्त्रों के नीचे चर्म के ऊपर पहिनने से पसीना सूख जाता है और ठंढ लगने का भी डर नहीं रहता। फ़लालैन, शाल, अलपका, मलीना इत्यादि ऊनी वस्त्र होते हैं।

रेशम भी ताप का उत्तम वाहक नहीं है और शरीर के ताप की रक्षा करता है। किन्तु यह गुण उसमें ऊन की अपेक्षा कम है। वह पसीने को सोखता है। इस कारण जो लोग ऊनी बनियायन या क़मीज नहीं पहिन सकते उनको रेशमी बनियायन पहिनना चाहिये। चमड़ा, फ़र, रबड़ के वस्त्र इत्यादि हमारे देश में नहीं पहिने जाते। वह बहुत ही गरम होते हैं। हमारे देश में चमड़े के जूते बनाये जाते हैं। उत्तरी ध्रुव पर रहने वाले ऐस्किमो लोगों के सब वस्त्र चमड़े ही के होते हैं।

हमारे देश में सब से अधिक प्रयोग रुई से कते बुने वस्त्रों का होता है। रुई ताप का उत्तम वाहक है। इस कारण शरीर के ताप का संवहन रुई से बने हुये वस्त्रों द्वारा शीघ्र होता है। इन वस्त्रों का मूल्य भी ऊनी वस्त्रों की अपेक्षा बहुत कम होता है। गरमी के मौसम में यही वस्त्र

इसी कारण सदा काटा करती हैं और रक्त चूसती हैं। इनके द्वारा पीत-ज्वर (Yellow Fever) और टाइफ़स ज्वर फैलते हैं। कुछ लोग इनको कालाज़ार रोग को फैलाने वाला भी मानते हैं। रक्त चूसते समय ये मल त्याग भी करती हैं जिसमें रोगों के जीवाणु रहते हैं जो कटे हुये स्थान द्वारा शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

जूँ ही के समान खटमल भी मनुष्य के शरीर से रक्त चूसता है। ये अधिकतर बिछौने-गद्दे, पलंग, चारपाई आदि में रहते हैं। वहाँ से मनुष्य के शरीर तथा अन्य वस्त्रों में भी चले आते हैं। इनको कालाज़ार तथा प्लेग फैलाने वाला माना जाता है। प्लेग विशेष कर Rat Flea के द्वारा फैलता है, जो एक प्रकार की छोटी सी मक्खी होती है। उसके मल में प्लेग के जीवाणु उपस्थित पाये जाते हैं। किन्तु कभी कभी खटमल के शरीर में भी ये जीवाणु मिलते हैं। इसके अतिरिक्त खटमलों के द्वारा राजयक्ष्मा, (तपेदिक़), कुष्ठ (Leprosy), टायफ़स आदि रोग भी फैल सकते हैं। खटमल प्रकाश को सहन नहीं करते। इस कारण अँधेरे स्थानों में रहते हैं।

जूं और खटमलों को मारने के उपाय—शिर के बालों को जितना छोटा हो सके काट देना चाहिये। तत्पश्चात् शिर के चर्म पर मिट्टी के तेल और ज़ैतून के तेल (Olive oil) को बराबर भाग में मिला कर मलना चाहिये। किन्तु इसको मल कर अग्नि या मिट्टी के तेल के लम्प या दीवे के पास न जाना चाहिये। इससे बालों में आग पकड़ लेने का भय रहता है। कुछ समय के पश्चात् कंघे को सिरके में डुबोकर या सिरके को शिर पर मल कर कंघे से बालों की जड़ों को स्वच्छ किया जाय। इससे जुओं के अंडे, जिनको 'लीक' कहते हैं, शिर से झड़ जायेंगे। तत्पश्चात् साबुन लगा कर शिर तथा शरीर को धो देना चाहिये। लड़कियों के लम्बे बालों को काटना कठिन है। वहाँ पर यही क्रिया दो तीन बार करनी आवश्यक है। अथवा रात्रि के समय मिट्टी और ज़ैतून के तेल को लगा कर सो जायँ और प्रातःकाल सिरके से बालों को भली

भाँति भिगो कर बारीक कंघे से बालों को साफ़ करें। तत्पश्चात् साबुन लगा कर बालों को स्वच्छ करके स्नान कर डालें। दो तीन बार ऐसा करने से जुंवे जाती रहेंगी।

किन्तु फिर से जुंवे न हो जायँ इसके लिये कुछ समय तक शिर की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा।

वक्ष के बालों में जो जूँ हो जाती हैं उनको मारने के लिये बालों में कारबोलिक लोशन (१:४०, अर्थात् १ भाग कारबोलिक एसिड और ४० भाग जल) को रगड़ना चाहिये।

खटमल—चारपाई या पलंगों की निवाड़ के नीचे तथा पावों और सेरवे तथा पट्टियों के जोड़ों में रहते हैं। इस कारण निवाड़ को उधड़वा कर पट्टी तथा पावों को धूप में सुखाना चाहिये। इन सबों को फ़ारमेलीन के धुएँ में रखने से खटमल जल्दी ही मरते हैं। फ़ारमेलीन का धुआँ उत्पन्न करने के लिये विशेष यन्त्र आते हैं। साधारणतया एक गहरी रकाबी में फ़ारमेलीन को भर कर उसके नीचे एक स्पिरिट लम्प जलाने से फ़ारमेलीन के वाष्प उत्पन्न हो जाते हैं।

दीवारों के छिद्रों तथा दरारों में खटमल रहते हैं। इन स्थानों को सीमेन्ट से बन्द करना चाहिये। नेप्थलीन को छिड़क देने से भी खटमल भाग जाते हैं।

प्रश्न

१—शरीर को स्वच्छ रखने से क्या लाभ है? किस प्रकार शरीर को स्वच्छ रखा जा सकता है?

२—विद्यार्थी जीवन में क़ब्ज़ रहने के क्या कारण होते हैं? उसको किस प्रकार दूर किया जाता है?

३—मुख की शुद्धि का क्या महत्व है? पायरिया रोग किस प्रकार उत्पन्न होता है? उससे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है और उसको रोकने का क्या उपाय है?

४—नेत्रों की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है ? असावधानी से नेत्रों को क्या हानि पहुँचती है ?

५—व्यायाम से शरीर के भिन्न भिन्न अंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? व्यायाम कितना और कहाँ करना चाहिये ?

६—वस्त्रों में क्या गुण होने चाहिये ? किस मौसम में किस प्रकार के वस्त्र पहिनने चाहिये ?

७—जूं और खटमलों से कौन कौन रोग फैलते हैं ? इनको किस प्रकार नष्ट किया जाता है ?

८—विद्यार्थी जीवन की दिनचर्या का वर्णन करो।

रोग और उनको रोकने के उपाय

प्रायः दो प्रकार के रोग पाये जाते हैं; एक वे जो जीवाणुओं (Germs) के कारण उत्पन्न होते हैं और दूसरे वे जो स्वयं शरीर के भीतर उत्पन्न हुये विकारों के कारण हो जाते हैं। हैज़ा, प्लेग, चेचक, निमोनिया जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग हैं। इन रोगों के जीवाणु किसी भाँति शरीर में प्रविष्ट होकर भिन्न भिन्न अंगों में पहुँच कर विशेष प्रकार के विष उत्पन्न करते हैं तथा स्वयं अपनी संख्या में भी वृद्धि करते हैं जिससे रोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार निमोनिया के जीवाणु फुस्फुस या फेफड़ों में पहुँच कर ज्वर, खाँसी इत्यादि लक्षण उत्पन्न करते हैं। हैज़े के जीवाणु अंत्रियों में पहुँच कर पतले दस्त और वमन (कै) उत्पन्न कर देते हैं। प्लेग के जीवाणु लिम्फ़ की गाँठों (Lymph Glands) में पहुँच कर वहाँ उत्पात मचाते हैं और उनसे उत्पन्न हुआ विष सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है।

दूसरे प्रकार के रोग शरीर के भीतर ही किन्हीं कारणों से उत्पन्न हुये परिवर्त्तनों के परिणाम होते हैं। मन्दाग्नि, संग्रहणी, कास, गठिया इत्यादि ऐसे ही रोग हैं। इनके उत्पन्न होने में जीवाणु किसी प्रकार का भाग नहीं लेते।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुये रोगों से हमारे देश तथा परिवारों में जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से ८० प्रतिशत मृत्यु रोकी जा सकती हैं। उचित उपायों द्वारा इन रोगों से बचना कठिन नहीं है। योरुप तथा अमरीका में इन रोगों का इतना प्रतिबंध कर दिया गया है कि वहाँ पर उन रजिस्टरों से, जिनमें जीवन मृत्यु के अंक भरे जाते हैं, इन रोगों के नाम तक उड़ गये हैं। वास्तव में ये रोग सामाजिक स्वास्थ्य संबन्धी

नियमों को न पालने के सूचक हैं। उचित उपायों से ये सब रोग रोके जा सकते हैं। हाँ, उसके लिये समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग की आवश्यकता है। केवल सरकारी म्यूनिसिपेलिटी के द्वारा यह काम पूर्णतया संपादित नहीं हो सकता।

ऊपर कहा जा चुका है कि हैज़ा, मोतीझरा इत्यादि रोग जीवाणुओं के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनसे असंख्य व्यक्ति प्रति वर्ष मरते हैं। अतएव जीवाणुओं के संबंध में कुछ विचार करना आवश्यक है।

जीवाणु—यह जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म जीव हैं जो वनस्पति वर्ग (Vegetable Kingdom) में गिने जाते हैं। इनके शरीर प्रायः एक अत्यन्त सूक्ष्म सैल के बने होते हैं। इनको साधारण नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। इस कारण एक विशेष विधि से कई रासायनिक रंगों से रंग कर उनको माईक्रोस्कोप के द्वारा देखा जाता है जिसमें वे १००० गुणा बढ़े हुये दिखाई देते हैं। ऐसा करने पर उनमें से बहुत से केवल एक बिन्दु की भाँति दिखाई देते हैं। इनके शरीर की लम्बाई १/५००० से १/५०० इंच तक होती है। इसी कारण उनको साधारण नेत्रों से नहीं देख सकते।

ये जीवाणु प्रकृति में प्रायः सब स्थानों में पाये जाते हैं। नगर की गलियों की वायु में यह जीवाणु उपस्थित रहते हैं। यह प्रयोग द्वारा सहज में सिद्ध किया जा सकता है। दूध को एक बर्त्तन में उबाल लो। फिर थोड़े से दूध को एक चौड़ी तश्तरी में ठण्ढा करके कुछ समय के लिये उसे खुला हुआ सड़क के ओर की खिड़की के पास रख दो। पन्द्रह मिनट के पश्चात् उसको फिर दूसरी तश्तरी से ढाक दो और एक ऐसे स्थान में रख दो जहाँ धूल न पहुँच सके। चौबीस या ४८ घंटे के पश्चात् यदि उसको खोल कर देखोगे तो दूध पर छोटे छोटे श्वेत या नीले रंग के धब्बे से दिखाई देंगे। इन धब्बों को किसी नुकीली वस्तु से कुरेदने से मालूम होगा कि दूध के पृष्ठ पर जैसे कोई वस्तु उगकर फैल गई हो। दूध जीवाणुओं के लिये एक उत्तम भोज्य पदार्थ है जिस पर उनकी

इतना लाभ पहुँचाते हैं, और हमारी सेवा करते हैं, Saprophytic Bacteria कहते हैं। रोग उत्पन्न करने वालों को parasitic Bacteria कहा जाता है।

जीवाणुओं के आकार—जैसे ऊपर कहा जा चुका है ये जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इनके आकार भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसा चित्र में दिखाया गया है कोई जीवाणु विन्दु के समान होते हैं और एक लम्बी शृङ्खला बनाये हुये दिखाई देते हैं। कुछ एक गुच्छे के आकार में सामूहित होते हैं। कुछ का आकार एक छोटे कुछ मुड़े हुये डंडे के समान दिखाई देता है जैसे राजयक्ष्मा के जीवाणु। हैज़े के जीवाणु अंग्रेज़ी के कौमा. जैसे दिखाई देते हैं। कुछ जीवाणुओं का शरीर लहरियेदार होता है। उनके शरीर में कई स्थानों में घुमाव होता है। इनको 'स्पिरिला' कहा जाता है। विन्दु के आकार वाले 'कोकाई' होते हैं और डंडे के आकार वाले 'बेसिलाई' (Spirilla, Cocci, Bacilli) कहे जाते हैं।

अन्य आवश्यकतायें—अन्य जीवित वस्तुओं की भाँति इन जीवाणुओं को भी भोजन की आवश्यकता होती है जो वे जिसके शरीर में रहते हैं उस ही से ग्रहण करते हैं। रक्त, लिम्फ़, माँसरस, दूध उनके लिये उत्तम भोजन पदार्थ हैं जिनसे पोषण ग्रहण करके वे जीवित रहते हैं और अपनी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाते रहते हैं।

उनको जल और आर्द्रता की आवश्यकता होती है। जल की कमी होने पर उनकी वृद्धि नहीं होती। इनकी वृद्धि ३५° से ३६° सेन्टीग्रेट ताप पर उत्तम होती है। ४०° से ४५° सेन्टीग्रेड से ऊपर वृद्धि बन्द हो जाती है और ७५° सेन्टीग्रेड पर अधिकतर जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

ये सूर्य प्रकाश को सहन नहीं कर सकते। बहुत से जीवाणु जो ता और शुष्कता से नहीं मरते वे सूर्य प्रकाश से आध या एक घंटे में म जाते हैं। किन्तु सूर्य की किरणें जीवाणुओं के शरीर पर पड़नी चाहियें सूर्य प्रकाश की अल्ट्रावायोलेट किरणें जीवाणुओं की सब से प्रबल शत्रु हो
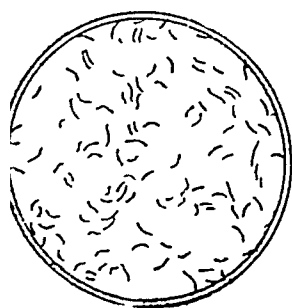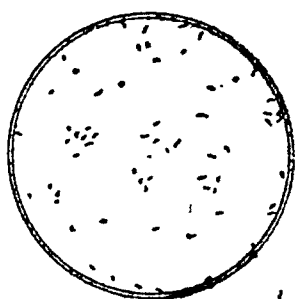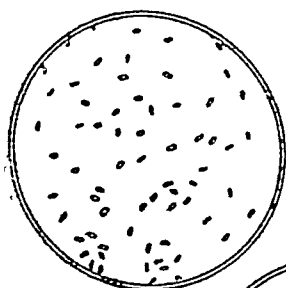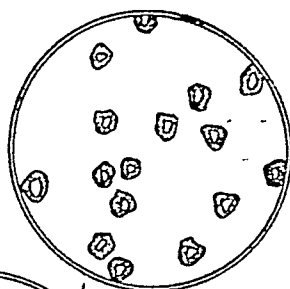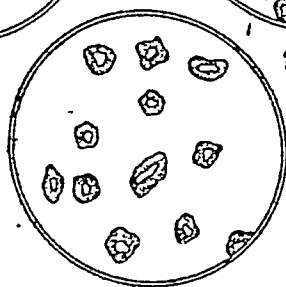
कीटाणु जब सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखे जाते हैं तब असल से कई सौ गुने बड़े दिखाई देते हैं—(१) हैज़े के कीटाणु (२) तपेदिक के कीटाणु (३) साफ रक्त (४) ताऊन के कीटाणु (५) मलेरिया के कीटाणु

चित्र १८

हैं। राजयक्ष्मा का जीवाणु जो उबालने पर भी शीघ्र नष्ट नहीं होता इन किरणों से शीघ्र ही मर जाता है। कुछ जीवाणु प्रकाश और वायु की उपस्थिति में वृद्धि नहीं कर सकते। इससे यह भली भाँति स्पष्ट है कि प्रकाश और वायु स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। अतएव मकान के प्रत्येक कमरे के प्रत्येक कोने में प्रकाश और वायु पहुँचनी चाहिये।

जीवाणुओं में उत्पत्ति तथा उनकी संख्या में वृद्धि इस प्रकार होती है कि प्रत्येक जीवाणु के शरीर में विभाग होता चला जाता है। एक जीवाणु का शरीर दो भागों में विभक्त होता है जिससे दो जीवाणु बन जाते हैं। इस प्रकार एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इसी प्रकार जीवाणु बढ़ते चले जाते हैं। एक नया जीवाणु बीस या तीस मिनट में युवा होकर उत्पत्ति प्रारंभ कर देता है। यदि एक घंटे में जीवाणु का एक बार भी विभक्त होना मान लिया जाय तो एक जीवाणु से चौबीस घंटे में १७,०००,००० जीवाणु हो जायँगे। शरीर में प्रायः कई जीवाणु एक साथ प्रवेश करते हैं। इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि चौबीस घंटे के पश्चात् शरीर में जीवाणुओं की कितनी संख्या हो जायगी और उनसे कितनी हानि पहुँचेगी।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुये रोग—रोगों को उत्पन्न करने वाले जीवाणु शरीर में प्रवेश करके दो प्रकार से रोग उत्पन्न करते हैं। कुछ तो केवल उस ही स्थान पर, जहाँ उन्होंने प्रवेश किया है, रोग उत्पन्न करते हैं जैसे फोड़ा फुन्सी उत्पन्न करने वाले जीवाणु। दूसरे जीवाणु शरीर में प्रवेश करके एक प्रकार का विष उत्पन्न करते हैं जिसको 'टौक्सिन' (Toxin) कहते हैं। यह विष शरीर में व्याप्त होकर दूर के अंगों में रोग के लक्षण उत्पन्न कर देते हैं, जैसे टिटेनस (Tetanus) जल संत्रास (Hydrophobia) आदि। कुछ जीवाणु ऐसे भी हैं जो दोनों प्रकार से क्रिया करते हैं। प्रवेश के स्थान पर भी रोग उत्पन्न करते हैं और सारे शरीर में रोग के अन्य लक्षण दिखाई देते हैं; जैसे डिप्थीरिया।

इस रोग में गले के भीतर एक मटमैले रंग की झिल्ली बन जाती है और सारा शरीर विषों के कारण ज्वर से आक्रान्त हो जाता है।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुये रोगों को संक्रामक रोग (Infectious diseases) कहा जाता है, क्योंकि ये रोग एक मनुष्य से दूसरे को हो जाते हैं। रोग के जीवाणु वायु, जल, कीड़ों, पारस्परिक सम्पर्क इत्यादि द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं। राजयक्ष्मा के जीवाणु वायु द्वारा पहुँचते हैं। हैज़े और टायफ़ाइड के जीवाणु जल अथवा भोजन द्वारा पहुँचते हैं। प्लेग के जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश कीड़े के काटने से होता है। खाज रोगी के शरीर के सम्पर्क अथवा उसके प्रयोग किये हुये वस्त्रों द्वारा दूसरों को होता है। ऐसे रोगों को 'संसर्गज रोग' (Contagious disease)कहा जाता है।

रोग क्षमता—(Immunity) यद्यपि ये रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु सब स्थानों में उपस्थित रहते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति के अंगों में भी कुछ जीवाणु पाये जाते हैं तो भी सबों को रोग नहीं होता। यदि १०० व्यक्तियों के गलों की परीक्षा की जाय तो उनमें से कम से कम ८० में राजयक्ष्मा, निमोनिया, इन्फ़्लुयेंजा इत्यादि के जीवाणु उपस्थित पाये जायेंगे। किन्तु उनको देखने में किसी प्रकार का रोग नहीं होता। उनका स्वास्थ्य उत्तम होता है और वे रोग मुक्त होते हैं।

रोग उत्पन्न होना दो बातों पर निर्भर करता है। एक जीवाणुओं की प्रबलता और दूसरे रोग क्षमता। कुछ जीवाणु कमज़ोर होते हैं। वे रोग नहीं उत्पन्न कर पाते। उनको शरीर की रोग नाशक शक्ति दबाये रहती है। जब यह शक्ति कमज़ोर हो जाती है या जीवाणु प्रबल हो जाते हैं तब रोग के लक्षण प्रगट होते हैं।

यह रोग नाशक या रोग निवारक शक्ति ही रोग क्षमता कहलाती है। शरीर के रक्त में कुछ ऐसी वस्तुयें होती हैं जो रोग के जीवाणुओं को शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर भी अपना काम नहीं करने देतीं। उनको

नष्ट कर देती है। रक्त में जो श्वेत कण (White Corpuscles) होते है उनका काम ही वाहर से शरीर में आये हुये रोगों के जीवाणुओं तथा अन्य हानिकारक पदार्थों को नष्ट करना होता है। ज्यों ही शरीर में ये जीवाणु प्रवेश करते हैं त्यों ही श्वेत कण उस स्थान पर चारों ओर से आकर एकत्र हो जाते हैं। तुमने देखा होगा कि जब शरीर में कहीं पर फोड़ा होता है तो वहाँ पर सूजन हो जाती है और उस स्थान का ताप भी अधिक हो जाता है और वहाँ की लाली भी बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि जहाँ पर फोड़ा उत्पन्न करने वाले जीवाणु थे वहाँ पर रक्त अधिक आने लगता है जिससे वहाँ श्वेत कण बहुत संख्या में एकत्र हो जाते हैं। इसी से वहाँ सूजन हो जाती है। जीवाणु और श्वेत कणों में युद्ध होता है। यदि श्वेत कण जीतते हैं तो रोग उत्पन्न नहीं होता। यदि वे हार जाते हैं तो शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है।

न केवल यही. स्वयं रक्त में भी जीवाणुओं को गलाने की शक्ति होती है। तथा जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुये विषों को भी रक्त नष्ट करता है। इसका कारण वही शक्ति होती है जिसको हम रोग क्षमता कहते हैं।

यह प्राकृतिक रोग क्षमता है जो प्रत्येक मनुष्य के शरीर में होती है। वलवान और स्वस्थ शरीरों में यह क्षमता अधिक होती है। दुर्वल शरीरों में कम होती है। किन्तु यह भी देखा जाता है कि जिन व्यक्तियों को एक वार एक रोग हो चुकता है तो फिर दूसरी बार नहीं होता, अथवा यदि होता है तो बहुत हल्का। टाइफ़ाइड, चेचक, ऐसे ही रोग हैं जिनके एक वार हो जाने से शरीर में इन रोगों के विरुद्ध रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है। चेचक के एक आक्रमण से व्यक्ति चेचक से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। रक्त में ऐसी वस्तुयें वन जाती हैं जो चेचक के विष को नष्ट कर देती हैं। टाइफ़ाइड एक वार हो चुकने पर फिर नहीं होता। यदि होता है तो वहुत हल्का। ऐसे व्यक्ति के रक्त को निकाल कर उस से सीरम पृथक् कर उसको यदि टायफ़ाइड के जीवाणुओं में मिला दिया जाय तो वे जीवाणु निश्चल हो जायेंगे। उनकी चलने

और गति करने की शक्ति जाती रहेगी और उनका एक समूह बन जायगा। शरीर के भीतर ऐसी ही कोई क्रिया होती है जिससे जीवाणु अपना कार्य नहीं कर सकते। यह कृत्रिम रोग क्षमता कहलाती है जो रोग के आक्रमण से उत्पन्न होती है। प्रत्येक रोग में यह शक्ति नहीं उत्पन्न होती। आज कल कृत्रिम रोग क्षमता का चिकित्सा में बहुत प्रयोग किया जाता है।

संक्रमण अथवा जीवाणुओं का संवहन—ऊपर बताया जा चुका है कि जीवाणु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के शरीर में चार प्रकार से पहुँचते हैं :—(१) वायु द्वारा—जैसे राजयक्ष्मा, कुकुर खाँसी इत्यादि में (२) जल तथा भोजन द्वारा—जैसे हैज़ा, टाइफ़ाइड, पेचिश इत्यादि में (३) संसर्ग से—शारीरिक अथवा वस्त्रों के द्वारा सम्पर्क—जैसे खाज, दाद इत्यादि और (४) कीड़ों द्वारा. जो रोग के जीवाणुओं को शरीर पर काट कर भीतर प्रविष्ट कर देते हैं, जैसे प्लेग, मैलेरिया इत्यादि में।

रोग क्यों उत्पन्न होते हैं? रोग उत्पन्न होने का कारण ऊपर बताया जा चुका है। रोगों का मुख्य कारण रोगोत्पादक जीवाणु होते हैं जो किसी न किसी प्रकार शरीर में पहुँच जाते हैं। किन्तु रोग उत्पन्न होने के लिये केवल इन जीवाणुओं का शरीर में पहुँचना पर्याप्त नहीं है। शरीर भी इस दशा में होना चाहिये कि वह इन जीवाणुओं को आश्रय दे सके और वे जीवाणु विकार उत्पन्न कर सकें, अर्थात् शरीर की रोगक्षमता अथवा रोग निवारक शक्ति क्षीण हो, प्रबल न हो; शरीर किन्हीं कारणों से दुर्बल हो जिससे वह जीवाणुओं को नष्ट न कर सके। यह दशा 'रोग प्रवृत्ति' (Predisposition) कहलाती है। जब तक शरीर में रोग प्रवृत्ति नहीं होती तब तक रोग नहीं उत्पन्न होता।

रोग प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले कारण—(१) गन्दे स्थानों या छोटे छोटे कमरों में, जिनमें वायु के प्रवेश और निकास का उत्तम प्रबन्ध न हो, रहने से शुद्ध वायु नहीं मिलती। इससे शरीर को शक्ति

कम हो जाती है (२) शुद्ध जल और (३) उत्तम भोजन न मिलने का भी यही परिमाण होता है। उत्तम भोजन से गरिष्ठ खोवे की मिठाइयों से तात्पर्य नहीं है। जिस भोजन से शरीर पुष्ट हो, और जिसमें गतपृष्ठों में बताये हुये गुण हों वह उत्तम भोजन है। भोजन के उपयुक्त न होने से, अथवा अधिक भोजन करने से तथा आवश्यकता से कम भोजन मिलने से तथा भोजन के दूषित होने से शरीर दुर्बल हो जाता है और रोगप्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है (४) आयु—यदि बच्चे और युवा दोनों को समान ठण्ढ लगे तो बच्चे को उससे तुरन्त रोग हो जायँगे, युवा को नहीं होंगे। बच्चों की रोग क्षमता शक्ति कम होती है। इसी कारण इस अवस्था में संक्रामक रोग अधिक होते हैं। (५) स्त्री या पुरुष—कुछ रोग जैसे गठिया, टिटेनस, डायबिटीज़ (पेशाब में शकर आना) पुरुषों को अधिक होते हैं। (६) पैतृक प्रवृत्ति (Heredity) —जिन व्यक्तियों को राजयक्ष्मा, कैंसर, गठिया इत्यादि हो चुकते हैं उनकी सन्तान को भी ये रोग होने का बहुत अवसर रहता है। इस कारण उनको रोग से बचाने के लिये विशेष उपाय करने चाहिये। (७) ठंढ लगना—ठंण्ढ लगने से रोग निवारक शक्ति बहुत कम हो जाती हैं। (८) धूप या लू लगने से भी यही परिमाण होता है (९) व्यायाम या परिश्रम—अधिक करने से शरीर की शक्तियों का ह्रास होता है। इन सब दशाओं में रोग उत्पन्न होने का बहुत अवसर रहता है।

प्रश्न

१—जीवाणु किन को कहते हैं ? प्रकृति में जीवाणु क्या कार्य करते हैं ? उदाहरण स्वरूप कुछ जीवाणुओं के चित्र खींचो।

२—जीवाणु शरीर में रोग किस प्रकार उत्पन्न करते हैं ?

३—संक्रामक रोग किन को कहते हैं और वे किस प्रकार फैलते हैं ?

४—रोग क्षमता से क्या अर्थ है? यह किस प्रकार में उपन्न होती है?

५—किस प्रकार रोगों के जीवाणु एक मनुष्य से दूसरे के शरीर में पहुँचते हैं?

रोग संवाहक कीट

गत परिच्छेद में बताया जा चुका है कि बहुत से रोगों के जीवाणु तथा विष कुछ कीड़ों या मक्खियों द्वारा शरीर में पहुँचते हैं। मैलेरिया और मच्छर का संबंध विख्यात है। साधारण जनता भी जानती है कि मच्छर के बिना मैलेरिया नहीं हो सकता। इसी प्रकार चूहे और प्लेग का अभिन्न होना भी सबों को मालूम है। साथ में वे यह भी जानते हैं कि चूहे के साथ चूहे की मक्खी रहती है। हैज़ा उन्हीं दिनों में अधिक फैलता है जब मक्खियाँ फैलती हैं। अतएव ऐसे कीट पतंगों के बारे में जो रोग ने में भाग लेते हैं, कुछ विचार करना आवश्यक है।

मच्छर

मच्छरों का राग तो सब ही ने सुना होगा और उसके डंक का भी अनुभव किया होगा; किन्तु यह थोड़े ही जानते होंगे कि मच्छर किस प्रकार रोग फैलाता है, सहस्रों व्यक्तियों को अशक्त कर देता है और सामाजिक और आर्थिक हानि का कारण होता है।

मच्छर की कई जातियाँ हैं। किन्तु तीन जातियों के मच्छरों का रोगों के साथ सम्बन्ध पाया जाता है। इनको ऐनोफ़िलीज़, क्यूलेक्स और स्टेगोमाया (Anopheles, Culex, Stegomyia) कहते हैं।

ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छर मकानों के पास बहुत पाये जाते हैं। खेतों, तराइयों और झीलों के पास, पुराने तालाबों या जहाँ भी जल सड़ता हो वहाँ ये मच्छर मिलते हैं। मैलेरिया इन्हीं मच्छरों के द्वारा फैलता है।

क्यूलैक्स जाति का मच्छर बिल्कुल घरेलू है। मकान में जो मच्छर होते हैं वे प्रायः क्यूलैक्स ही होते हैं। ये श्लीपद (Elephantiasis) नामक रोग फैलाते हैं।

स्टेगोमाया मच्छर भी बिल्कुल घरेलू है। मकान में या मकान के पास जहाँ टूटे हुये पीपों, गड्ढों, छोटे छोटे हौज़, वर्तन, घड़े इत्यादि में जल एकत्र होता है, वहाँ ही ये अपने अंडे दे देते हैं। ये अंडे काले रंग के

१—ज्ञापक । २—पूर्व भाग । ३—कपाल । ४—मध्य वक्ष । ५—पक्षावशिष्ट । ६—उदर का प्रथम खंड । ७—जंघिका । ८—टाँग का अन्तिम खंड । ९—प्रपादिका के खंड । १०—ऊर्व्विका का खंड । ११—उर्व्विका । १२—अंड-विधायक । १३—उदर । १४—पश्चात् वक्ष । १५—शराविका । १६—पूर्व-वक्षिक भाग । १७—पश्चा-दिका । १८—नेत्र । १९—संपर्चक । २०—शुंडिका ।

चित्र १९
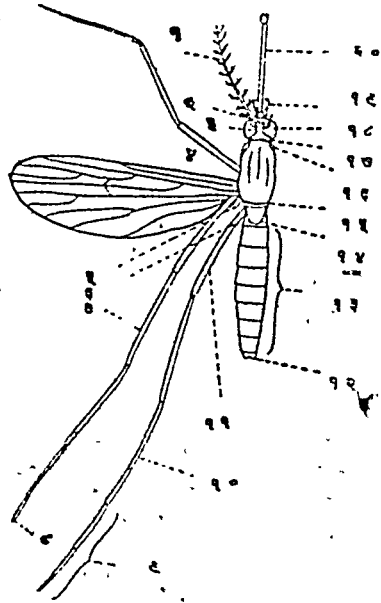
और कुछ लम्बे होते हैं और एक दूसरे से पृथक् रहते हैं और जल पर तैरते रहते हैं। ऐनोफ़िलीज़ और क्यूलैक्स के अंडे आपस में मिले रहते हैं।

स्टेगोमाया पीत ज्वर (Yellow fever) और डैंगू (Dengue) फैलाने में भाग लेती है।

मच्छरों की उत्पत्ति—मच्छर बँधे हुये जल में अंडे देते हैं। इस कारण तालाब तथा नदियों के किनारों पर, मोरियों में तथा मकानों में टूटे हुये बर्त्तनों में एकत्र हुये जल में इनके अंडे पाये जाते हैं। एक मादा मच्छर एक बार में ५० से ४०० तक अंडे दे सकती है। ऐनोफ़िलीज़
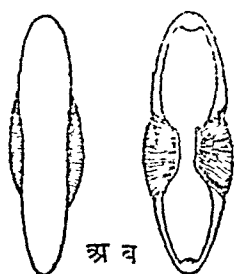
ऐनोफ़िलीज़ के अंडे (बढ़ाकर दिखाये गये हैं)
अ—नीचे की ओर से ब—ऊपर की ओर से—चित्र २०

के अंडे लम्बे सिगार की भाँति, ०·७ से १·० मि० मीटर लम्बे होते हैं और एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। इनको लैंस की सहायता से देखा जा सकता है। क्यूलेक्स के १०० या १५० अंडे एक साथ, एक लसदार पदार्थ द्वारा जुड़े रहते हैं और आकार में एक नौका की भाँति दिखाई देते हैं।

क्यूलैक्स के अण्डे—चित्र २१

दो या तीन दिन में इन अण्डों से कीड़ों के समान जल में रेंगने वाले लम्बे आकार के जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। ये 'लार्वा' कहलाते हैं।

चित्र में एनोफ़िलीज़ और क्यूलैक्स दोनों के लार्वे दिखाये गये हैं ।
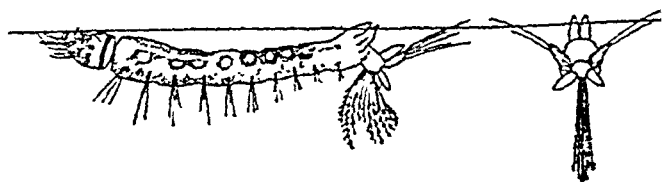
एनोफ़िलीज़ का लार्वा—चित्र २२

जल के पृष्ठ पर आकर वायु ग्रहण करते समय उनकी जो स्थिति होती है वह भी दिखाई गई है ।
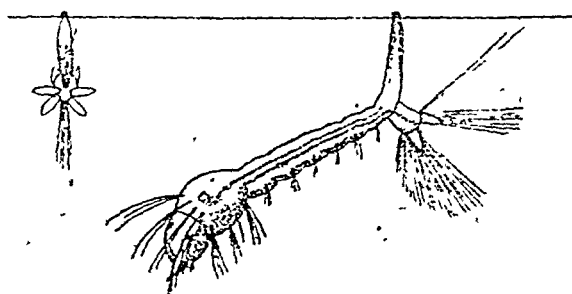
क्यूलैक्स का लार्वा—चित्र २३

गर्म देशों में ८ से १० और ठंडे देशों में १४ से २० दिन में लार्वा में परिवर्त्तन होकर वह 'प्यूपा' बन जाता है। यह बड़ी शीघ्रता से जल में चारों ओर दौड़ता है। इसके अगले भाग के दोनों ओर से दो नलिकायें बाहर को निकली रहती हैं जिनके द्वारा प्यूपा वायु ग्रहण करता है। दो या तीन दिन तक यह प्यूपा की अवस्था रहती है। तत्पश्चात् उसका शरीर सीधा हो जाता है और वह चुप चाप जल पर पड़ जाता है। उसका बाहिर का आवरण फटता है और उसके भीतर से एक पूर्ण किन्तु छोटा मच्छर निकल आता है।
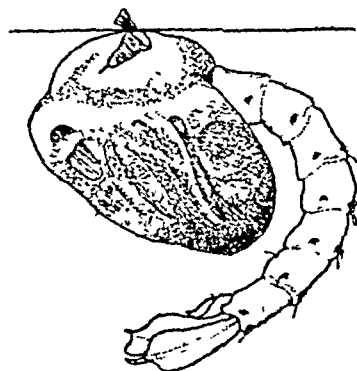
ऐनोफ़िलीज़ का प्यूपा
चित्र २४
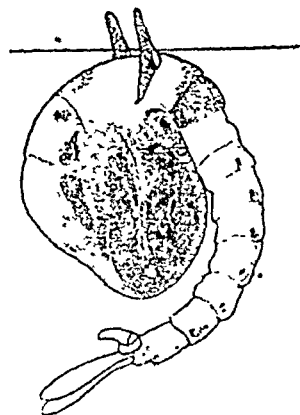
क्यूलैक्स का प्यूपा
चित्र २५

मच्छरों के स्वभाव की विशेषतायें—मच्छर जहाँ उत्पन्न होते हैं वहाँ से वे बहुत दूर नहीं जाते। इस कारण मकान के पास जितने गढ़े हों या जहाँ भी जल एकत्र हो सके उन स्थानों को भरवा देना चाहिये।
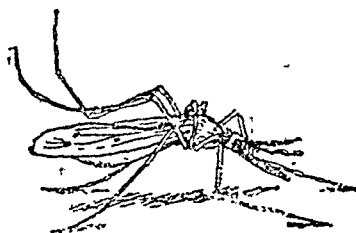
क्यूलैक्स जाति का मच्छर (बैठा हुआ)—चित्र २६

ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर (बैठा हुआ)—चित्र २७

मच्छर अधिक शीत नहीं सहन कर सकते। इस कारण वे जाड़े के मौसम में छिपे रहते हैं और जाड़े के अन्त होने के समय प्रायः मार्च के महीने में

प्रकार एक पैरासाइट से सहस्रों पैरासाइट बन जाते हैं जो नवीन रक्त कणों पर आक्रमण करके उनको नष्ट कर देते हैं।

मच्छरों को मारने के उपाय—मैलेरिया रोकने के जितने भी उपाय हैं वे मच्छरों के नष्ट करने वाले हैं। बिना मच्छरों को नष्ट किये मैलेरिया नहीं रोका जा सकता।

छोटे छोटे जलाशय तथा गढ़ों, चौबच्चों या हौज़ को बन्द करवाना पहिले ही बताया जा चुका है जिससे मच्छरों को अंडे रखने का स्थान ही न मिले। फिर जलाशयों में लार्वों को खाने वाली छोटी छोटी मछली होती हैं। यदि तालाब में ये न हों तो उनको उसमें छोड़ देना चाहिये। ये लार्वों को नष्ट करेंगी और जल को स्वच्छ रखेंगी। मिट्टी का तेल और अस्वच्छ पैट्रोलियम (Unrefined petrol) मिला कर जल पर फैला देने से लार्वे मर जाते हैं क्योंकि उनको वायु नहीं मिल सकती। 'पैरिसग्रीन' नामक वस्तु के एक भाग में १०० भाग लकड़ी का बुरादा या धूल मिला कर जल पर फैलाने से भी लार्वे मर जाते हैं।

मच्छरों से अपने शरीर की रक्षा करने के लिये मसहरी का प्रयोग करना आवश्यक है। तीव्र गन्ध वाली वस्तुओं से भी मच्छर भाग जाते हैं। कपूर, यूकलिप्टस तेल, सन्दल का तेल और पिपरमेन्ट, सिरका, नींबू का रस, आदि मच्छरों को असह्य होते हैं। सिट्रोनैला तेल मथा पायरेथ्रम चूर्ण मच्छरों को भगाने के बहुत काम में आता है। किन्तु इनका प्रभाव थोड़े ही समय रहता है। जब इनकी गन्ध उड़ जाती है तो उनकी कोई क्रिया नहीं होती।

आज कल जो मकान बनाये जाते हैं उनमें इस प्रकार का प्रबन्ध रखा जाता है कि मच्छर, मक्खी या अन्य कीड़े कमरे के भीतर न जा सकें। उनमें दोहरी खिड़की तया स्वयं बन्द होने वाले जाली के किवाड़े लगाने से ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि कोई भी कीट पतंग भीतर नहीं घुस सकता।
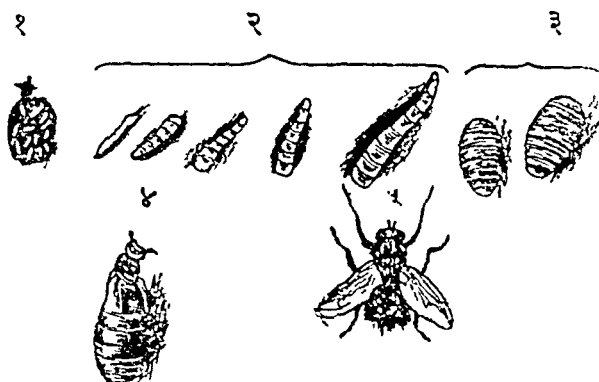
मक्खी के अंडे, लार्वे प्यूपा तथा अणु मक्खी—चित्र २६

श्वेत रंग के होते हैं। मक्खी प्रायः गोबर या घोड़े की लीद में अंडे रखती हैं। किन्तु वे मनुष्य की विष्ठा में भी पाये गये हैं। दशाओं के अनुकूल होने पर ८ घंटे में अंडों से लार्वे बन जाते हैं। किन्तु कभी कभी २४ घंटे तक लग जाते हैं।

(२) लार्वा—यह श्वेत मटमैले रंग के रेंगने वाले कीड़े से होते हैं। इनके पाँव न होने से यह चल नहीं सकते। वे लगभग आधा इंच लंबे होते हैं। इनका शरीर एक ओर से नुकीला और दूसरी ओर से चपटा होता है। नुकीली ओर से ये चलते हैं। इनमें खाने और खोदने की बहुत शक्ति होती है। कभी कभी शरीर के घावों में मक्खियाँ अंडे रख देती हैं जिनसे ये लार्वा उत्पन्न हो जाते हैं। इनको मैगट (Maggots) कहते हैं।

(३) प्यूपा या क्रिसेलिस—पाँच या छः दिन के पश्चात् लार्वा के ऊपर एक भूरे रंग का कड़ा आवरण चढ़ जाता है। उसकी गति करने की शक्ति बिल्कुल जाती रहती है। उसका आकार लकड़ी के पीपों के समान—बीच से मोटा और दोनों सिरों पर पतला होता है।

(४) सूक्ष्म मक्खी—पाँच से सात दिन के पश्चात् आवरण फट

मक्खियों के नाश का उपाय—मक्खियाँ गन्दगी की अभिन्न मित्र हैं। इस कारण यदि स्थान तथा मकान को स्वच्छ रखा जायगा तो मक्खियाँ न आयेंगी। मक्खियों के नाश करने का सब से उत्तम उपाय यह है कि नगर से कूड़ा करकट, मल, गोबर इत्यादि जितना भी शीघ्र हो सके दूर हटा दिया जाय। मकान का कूड़ा जला देना उचित है। कूड़े के ढेरों को तुरन्त हटा दिया जाय। यदि यह न हो सके तो उस पर मिट्टी का तेल डलवा देना चाहिये। मक्खियों के उत्पत्ति स्थानों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर नष्ट करना उचित है। मकान के दरवाज़ों और खिड़कियों पर जाली लगी होनी चाहिये। विशेष कर खाना बनाने तथा खाना खाने के कमरों में दोहरे जाली के दरवाज़े होने चाहियें खिड़कियों पर भी जाली लगा देना बहुत आवश्यक है।

बाज़ार की मिठाई तथा अन्य भोज्य पदार्थों के संबंध में सदा सावधान रहना चाहिये। ऐसे दुकानदारों से, जो उनको जाली की अलमारियों या जालीदार खोमचों में न रखते हों, कभी न लेना चाहिये।

काटने वाली मक्खियाँ- कुछ मक्खियाँ ऐसी भी होती हैं जो काटती हैं और रक्त चूसती हैं। अतएव इनके मुख की बनावट भी दूसरी तरह की होती है। मच्छर के मुख की भाँति उनके मुख में काटने के अंग होते हैं। उनसे वे काटती और रक्त चूसती हैं। इनके द्वारा कितने ही रोग फैलते हैं।

(१) चूहे पर रहने वाली (२) मनुष्य पर रहने वाली—चित्र ३०

चूहे की मक्खी (Rat Flea) अथवा प्लेग की मक्खी। ये

मक्खियाँ भी उसी श्रेणी की हैं जिस श्रेणी की साधारण मक्खियाँ हैं किन्तु इनके पर नहीं होते। इस कारण ये उड़ नहीं सकतीं; केवल फुदकती हैं। और फुदक फुदक कर ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती हैं। ये पृथ्वी से छः इंच से ऊपर फुदक भी नहीं सकतीं इस कारण भूमि से केवल छः इंच ऊपर तक काट सकती हैं।

जैसा चित्र में दीख रहा है इनके शरीर में सब से आगे सिर, उसके पीछे वक्ष और उसके पीछे उदर होता है। सिर के आगे के भाग में नीचे की ओर से रक्त को चूसने के लिये एक नली निकली रहती है। इसके नीचे की ओर दो तीव्र शलाकायें होती हैं जिनसे मक्खी चर्म को छेदती है, और तब रक्त को नलिका से चूसती है। इनके शरीर में दोनों ओर तीन टाँगों के जोड़े होते हैं जिनमें कई जोड़ होते हैं।
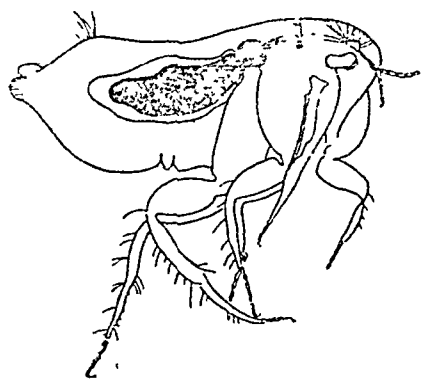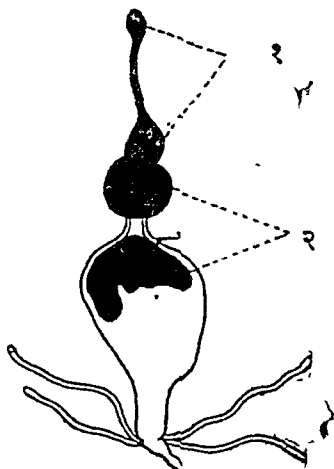
चूहे की मक्खी के शरीर के भीतर जीवाणु—चित्र २१

अ, समस्त मक्खी, ब, मक्खी का आमाशय, पूर्व आमाशय और अन्न-प्रणाली इत्यादि जो जीवाणुओं से भरे हुए हैं (After manson)—

ये मक्खियाँ गन्दे सीलवाले अंधेरे स्थानों में रहती हैं। प्रकाश को पसन्द नहीं करतीं। नर और मादा दोनों जाति की मक्खियाँ रक्त चूसती हैं। ये प्रथम चूहों पर आक्रमण करती हैं और उन्हीं पर रहती हैं।

जब चूहे प्लेग से मर जाते हैं या भाग जाते हैं तब वे मनुष्य पर आक्रमण करती हैं। जब तक उनको जीवित अथवा मृत चूहे मिलते हैं तब तक उन ही का रक्त चूसती रहती हैं।

जब मक्खियाँ प्लेग के रोगी चूहे का रक्त चूसती हैं तो रक्त के साथ रोग के जीवाणु उनके आमाशय में चले जाते हैं। वहाँ उनकी संख्या में वृद्धि होती है। मक्खी जब कभी मल त्याग करती है या काटती है तो उसके मल तथा मुख द्वारा ये जीवाणु बाहर निकल आते हैं और मक्खी ने काट कर जो घाव बना दिया था उसमें होकर शरीर में प्रवेश करते हैं। कुछ ही समय में इन जीवाणुओं की संख्या इतनी बढ़ जाती है कि मक्खी का सारा आमाशय जीवाणुओं ही से भर जाता है। वहाँ रक्त के लिये भी स्थान नहीं रहता। मक्खी को प्यास और भी अधिक लगती है। वह
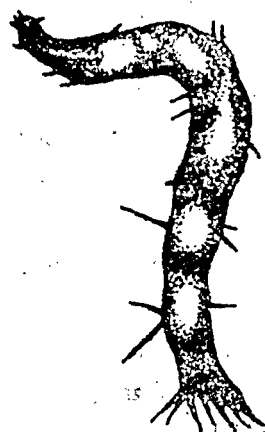
चूहे की मक्खी की लार्वा—चित्र ३२

रक्त चूसने का प्रयत्न करती है। किन्तु रक्त चूसते समय उसको वमन

होता है जिससे आमाशय से बहुत से जीवाणु बाहर निकल आते हैं और घाव के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

इन मक्खियों की उत्पत्ति में भी वही चार अवस्थायें होती हैं जो अन्य मक्खियों में पाई जाती हैं अर्थात् अंडा, लार्वा, प्यूपा और वृद्ध मक्खी। स्त्री एक बार में लगभग १२ अंडे देती है जिनको वह मल, कूड़े या चूहे के शरीर पर रखती है जो चूहे के शरीर से गिर कर कूड़े या भूमि में पहुँच जाते हैं। दो दिन में इन अंडों से लम्बे लम्बे लार्वा बन जाते हैं। ये रेंगते हैं और भूमि में या दीवारों की दरारों में छिपे रहते हैं। सात दिन के पश्चात् उनका आकार गोल हो जाता है और इनके ऊपर एक कठिन आवरण चढ़ जाता है। ये प्यूपा होते हैं। ६ या ७ दिन में प्यूपा से मक्खी बन जाती है।

चूहे—चूहे और इस मक्खी का प्लेग रोग से अभिन्न संबंध है। प्लेग सदा पहिले चूहों में फैलता है तब मनुष्य में फैलता है। चूहों में रोग फैलाने वाली यह मक्खी ही होती है। और यह मक्खी प्रायः उन्हीं स्थानों में पाई जाती है जहाँ चूहे होते हैं। यह पाया गया है कि एक चूहे से दूसरे चूहों को रोग मक्खी ही द्वारा होता है। यदि मक्खी न हो तो रोग भी न होगा। एक रोगी चूहे को स्वस्थ चूहे के साथ एक ही पींजरे में रखा गया, किन्तु वहाँ कोई मक्खी न थी। स्वस्थ चूहे को रोग नहीं हुआ। इसी भाँति मक्खी के न होने से चूहे से मनुष्य को भी रोग नहीं हो सकता।

प्लेग से बचने के लिये चूहों और मक्खी दोनों का नाश आवश्यक है। यदि चूहे न होंगे तो मक्खी भी न होंगी। चूहे उसी स्थान में रहते हैं जहाँ उनको भोजन मिलता है। भोजन न मिलने से वे भाग जाते हैं। इस कारण ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि यदि घर में चूहे हों भी, तो भी उनको खाने के लिये कुछ न मिले।

चूहों को मारने के लिये उनके बिलों को सीमेन्ट से बन्द करवाना उचित है प्लेग फैलने पर चूहों के मारने का तुरन्त प्रबन्ध करना

चाहिये। चूहेदानी के प्रयोग द्वारा चूहों को पकड़ना चाहिये। उनके बिलों में धुएँ को भर देना चाहिये। इसके लिये विशेष प्रकार के बने यन्त्र आते हैं। साथ में संखिया, फ़ास्फ़ोरस या बेरियम कार्बोनेट आटे या गुड़ के साथ मिला कर चूहों को खाने को देना चाहिये। इस प्रकार चूहों को जिस प्रकार भी मारा जा सके उनको नष्ट करना उचित है। साथ में घर के कोनों या अँधेरे भागों में मिट्टी का तेल छिड़कवा कर वहाँ गन्धक जलानी चाहिये। क्रिसोल (Cresol) नामक वस्तु, जो फ़िनायल की ही भाँति होती है, मक्खियों के मारने के लिये अत्युत्तम है। १० फ़ुट + १० फ़ुट कमरे के लिये दो औंस क्रिसोल को एक प्याले में भर कर उसको आग पर रख दिया जाय, जिससे उसके वाष्प बन कर कमरे में भर जायँ। कमरे के किवाड़ बन्द कर देने चाहिये जिससे वाष्प बाहर न निकल सके। दो घंटे के बाद दरवाज़े खोले जायँ। उपलों पर क्रिसोल डाल कर उनसे भी धुआँ
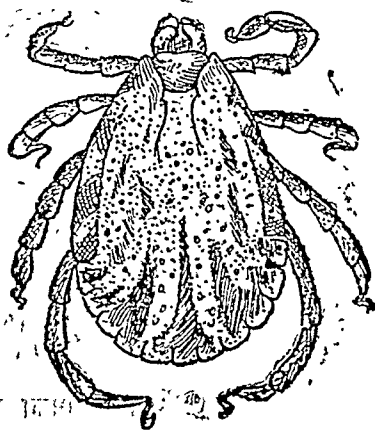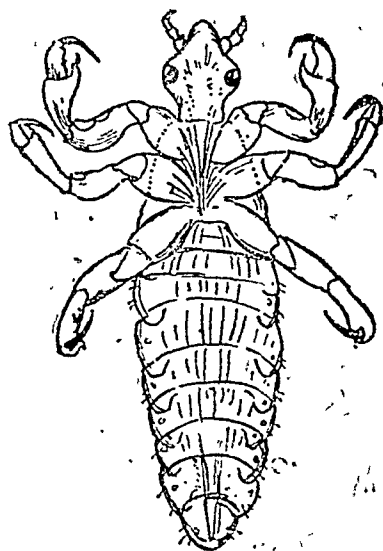
शरीर की जूँ—चित्र ३३ सिर की जूँ—चित्र ३४

किया जा सकता है। क्रिसोल से मनुष्य को कोई हानि नहीं पहुँचती। किन्तु सब प्रकार की मक्खियाँ तथा अन्य कीड़े मर जाते हैं।

जूँ—हमारे देश में जूँ पुनराक्रमक (Relapsing fever) ज्वर के जीवाणुओं का संवहन करती हैं। जीवाणु जूँ के शरीर के भीतर रहते हैं। जब कभी जूँ के काटने पर शरीर को खुजाने से चर्म खुरच जाता है और उस पर जूँ दब कर मर जाती है या रगड़ जाती है तो जीवाणु चर्म के घाव द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

जूँ तीन प्रकार की होती हैं जैसा चित्र में दिखाया गया है। एक सिर के बालों में पाई जाती है। दूसरी वक्ष के बालों में रहती है। तीसरी शरीर के निम्न भाग के छोटे किन्तु घने बालों में पाई जाती है। इन तीनों के शरीरों की बनावट में कुछ भिन्नता होती है।

जुँवें शरीर के जिन भागों में रहती हैं वहीं के बालों में ही अंडे दे देती हैं। वे अत्यन्त बारीक चमकते हुये श्वेत होते हैं और बालों पर चिपटे हुये दिखाई देते हैं। इनको साधारणतया 'लीक' कहा जाता है।
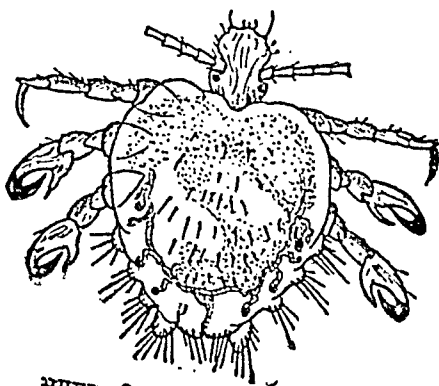
भगसन्धानिका की जूँ—चित्र ३५

जुँवों को मारने का उपाय पहिले बताया जा चुका है। इनको नष्ट

करने के लिये मिट्टी का तेल विशेष वस्तु है। उसको जैतून या गरी के तेल के साथ प्रयोग किया जा सकता है।

जूँ अस्वच्छता का प्रमाण है। जो लोग नित्यप्रति स्नान करते हैं और शरीर और वस्त्रों को स्वच्छ रखते हैं उनके शरीर में जूँ कभी नहीं पड़ती।

प्रश्न

१—मच्छरों में कितनी जातियाँ पाई जाती हैं? इनमें से मैलेरिया फैलाने वाले कौनसी जाति के मच्छर होते हैं?

२—मच्छर किस प्रकार मैलेरिया फैलाते हैं? मच्छर की उत्पत्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप से वर्णन करो।

३—मच्छरों को किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है?

४—मक्खी किस प्रकार रोगों को फैलाती है? कौन कौन रोग विशेष कर मक्खी के द्वारा फैलते हैं?

५—मक्खियों के नाश के उपाय बताओ।

६—चूहे की मक्खी द्वारा प्लेग किस प्रकार फैलता है? इनको नष्ट करने के उपाय बताओ।

७—चूहे और इन मक्खियों तथा प्लेग का क्या संबंध है? चूहों को किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है?

८—जूँ किन रोगों को फैलाती है? इनको किस प्रकार नष्ट करना चाहिये?

रोग के जीवाणु तथा विष को नष्ट करने के उपाय

विसंक्रामण (Disinfection)

विसंक्रामण का अर्थ है रोगों के जीवाणुओं तथा विष का नाश करना। उन वस्तुओं को जो इन जीवाणुओं को नष्ट करती हैं विसंक्रामक कहते हैं। ये पदार्थ प्रायः रासायनिक होते हैं। हैज़े के दिनों में प्रायः कुंओं में एक गहरे बैंगनी रंग की वस्तु को डालते हैं जिससे कुएँ के जल का रंग गुलाबी हो जाता है। इसको पोटाशियम परमैंगनेट कहते हैं। यह एक रासायनिक विसंक्रामक वस्तु है जो हैज़े के तथा अन्य जीवाणुओं का नाश करती है। इस प्रकार की और भी बहुत सी वस्तुएँ हैं जिनका संक्षेप से आगे के पृष्ठों में उल्लेख किया जायगा।

यह हम पहिले ही देख चुके हैं कि हैज़े, पेचिश आदि रोग जीवाणुओं ही के कारण उत्पन्न होते हैं। ये जीवाणु जिसके भी शरीर में पहुँच जाते हैं उस ही को रोग उत्पन्न कर देते हैं। इस कारण जब भी घर में कोई रोग ग्रस्त हो तो ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि रोगी के शरीर से मल मूत्र थूक द्वारा जो जीवाणु निकलें उनका तुरन्त नाश कर दिया जाय। इसके लिये किसी विसंक्रामक वस्तु को जल में घोल कर एक चौड़े मुँह के वर्त्तन—बेसिन या तसले—में रोगी के पास रख देना चाहिये। रोगी के थूकदान में भी यह घोल भरा रहे और उस ही में रोगी थूके। जब रोगी मल मूत्र त्याग करे तो उनमें यह घोल मिला दिया जाय। उसके उतार हुये वस्त्र और उसके छुये हुये वर्त्तनों को इस घोल में भिगो दिया जाय। यदि रोगी की मृत्यु हो जाय तो उसके पश्चात् सारे कमरे का विसंक्रामण किया जाय। कमरे की दीवारें, फ़र्श, दरवाज़े खिड़की, शय्या, कुर्सी, मेज़ तथा जो भी अन्य वस्तुयें कमरे में हों उन सब का विसंक्रामण अथवा शुद्धि होना आवश्यक

है। इससे रोग के जीवाणु नष्ट हो जायेंगे और दूसरों को रोग होने का भय न रहेगा।

कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं जो दुर्गन्धि को नष्ट कर देती हैं किन्तु जीवाणुओं का नाश नहीं करतीं। अतएव वे विसंक्रामण के लिये उपयुक्त नहीं है।

विसंक्रामक तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) प्राकृतिक
(२) भौतिक
(३) रासायनिक

प्राकृतिक विसंक्रामक—सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु है। यह पहिले बताया जा चुका है कि सूर्य का प्रकाश जीवाणुओं का शत्रु है। टाइफ़ाइड के जीवाणु सूर्य प्रकाश से ½ से २ घंटों के भीतर मर जाते हैं। राजयक्ष्मा के जीवाणु आध घंटे के भीतर नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य जीवाणु भी नष्ट होते हैं। किन्तु सूर्य की किरणें सीधी जीवाणुओं पर पड़नी चाहिये। सूर्य प्रकाश की अल्ट्रावायोलेट किरणें जीवाणुओं के लिये विशेषकर घातक होती हैं।

शुद्ध वायु में उपस्थित आक्सीजन भी जीवाणुओं के लिये हानिकारक है। उससे उनकी वृद्धि की शक्ति मारी जाती है।

भौतिक विसंक्रामक—(१) जलाना—सब से उत्तम विसंक्रामक 'ताप अथवा अग्नि, है। अग्नि में कोई भी वस्तु जीवित नहीं रह सकती। सब प्रकार की ऐन्द्रिक वस्तुओं का नाश हो जाता है। केवल धातु की बनी हुई वस्तुयें रह जाती हैं। इस कारण जिन वस्तुओं के, नष्ट होने का डर न हो जैसे बर्तन इत्यादि. उनको अग्नि में डालकर शुद्ध किया जा सकता है। जो सस्ते वस्त्र हों उनको जला देना ही सब से उत्तम है। जिन वस्त्रों में रोगी ने मलमूत्र त्याग किया हो उनको भी जलाना ही उचित है। ऐसा करने से फिर जीवाणुओं के फैलने का डर नहीं रहता।

होने के पश्चात् अपने घर के वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं को भेज कर उनको शुद्ध करवा सकते हैं।

भाप, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं के सम्पर्क में आकर जम जाती है जिससे उसका आयतन कम हो जाता है। इससे और भाप वहाँ पर आ कर वस्त्रों में प्रविष्ट हो सकती है। इस प्रकार भाप की क्रिया बराबर जारी रहती है।

भाप के द्वारा विसंक्रामण का अपने ही मकान पर प्रबन्ध किया जा सकता है। कैनवास या अन्य ऐसे ही वस्त्र का, जो भाप से बिगड़ने वाला न हो, एक २ फ़ुट लम्बा और ४१ फ़ुट चौड़ा थैला बनाया जाता है। जिन वस्त्रों को शुद्ध करना होता है वे इस थैले में भर दिये जाते हैं। पास ही एक दूसरे वर्त्तन में जल उबलता रहता है जिससे भाप एक नली के द्वारा थैले के ऊपरी भाग में पहुँचाई जाती है। भाप थैले में की ठण्डी वायु को नीचे की ओर ठेल कर निकाल देती है और स्वयं थैले में भरे हुये वस्त्रों में प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार १५ या बीस मिनट में पूर्ण विसंक्रामण हो जाता है।

रासायनिक विसंक्रामक—यह रासायनिक वस्तुयें हैं जिनका प्रयोग ठोस, चूर्ण के रूप में, तथा तरल द्रव्य के रूप में जो उनको जल में घोल कर बनाया जाता है, और गैस रूप में किया जाता है। इनकी क्रिया तरल तथा गैस रूप में सन्तोषजनक होती है। ठोस पदार्थ सब जीवाणुओं तक नहीं पहुँच पाते। उनकी क्रिया केवल उन्हीं तक होती है जिनके वे सम्पर्क में आते हैं।

संतोष जनक विसंक्रामण के लिये यह आवश्यक है कि विसंक्रामक पदार्थ उत्तम हो। वह जल में पूर्णतया घुल जाय तथा उसकी जल में इतनी मात्रा मिलाई जाय जो वास्तव में जीवाणुओं को नष्ट करने के लिये पर्याप्त हो। किन्तु उसका व्यक्तियों पर कोई बुरा प्रभाव न हो। साथ में वह मल, मूत्र, पूय, रक्त आदि के सम्पर्क में आकर निष्क्रिय भी

जाय। बहुत सी वस्तुयें शारीरिक स्रावों (Secretions) के साथ मिल कर जम जाती हैं और उनकी कोई क्रिया नहीं होती। ऐसे पदार्थ से विसंक्रामण नहीं हो सकता। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भिन्न भिन्न जीवाणुओं पर भिन्न भिन्न पदार्थों की विशेष क्रिया होती है। इस कारण प्लेग, हैज़े इत्यादि के लिये उनके ही लिये उपयुक्त विसंक्रामकों का प्रयोग करना चाहिये।

विसंक्रामक पदार्थ का सस्ता होना बहुत आवश्यक है।

निम्नलिखित रासायनिक वस्तुओं को विसंक्रामण के लिये काम में लाया जाता है:—

(१) रस कर्पूर (Mercury perchloride)—यह पारे का एक लवण (Salt) है। पारे का योग होने से यह बहुत भारी होता है। इसमें कोई रंग नहीं होता। इसमें जीवाणु नाशक शक्ति बहुत प्रबल होती है। १००० भाग जल में एक भाग रसकर्पूर मिलाने से जो घोल बनता है उससे टायफ़ाइड, डिफ्थीरिया हैज़े इत्यादि के जीवाणु दस मिनट में मर जाते हैं। किन्तु इसमें यह दुर्गुण है कि ऐलब्यूमिन के साथ मिल कर यह निष्क्रिय हो जाता है। यदि इस घोल में थोड़ा सल्फ़ुरिक अम्ल मिला दिया जाय तो उसका यह दुर्गुण जाता रहता है। प्रायः हाथ अथवा अन्य भागों को शुद्ध करने के लिये १:१००० (१ भाग लवण और १००० भाग जल) शक्ति का घोल काम में लाया जाता है। वस्त्रों के लिये १:५०० का घोल प्रयोग करते हैं। यह एक अत्यन्त तीव्र विष है जिसके पी लेने से मृत्यु हो जाती है। इस लिये इसके घोल में हलका नीला रंग मिला दिया जाता है। साधारणतया बाज़ार में इसकी टिकिया बिकती हैं जिनमें रंग मिला रहता है। उसको निर्देशानुसार जल में मिला कर घोल बना लेना चाहिये और शीशे की बोतलों में रखना चाहिये जिन पर "विष" का लेबिल लगा दिया जाय। धातु के बर्त्तनों में रखने से यह ख़राब हो जाता है।

(२) कारबोलिक अम्ल—(Carbolic Acid) इसको अलकतरे से बनाया जाता है। शुद्ध अवस्था में इसके लम्बे लम्बे रंग रहित कण होते हैं जो गरमी पाने पर पिघल जाते हैं और लाल रंग का एक तरल द्रव्य तैयार हो जाता है। इसको जल में मिला कर १:२०, १:४० या १:८० शक्ति का घोल बना लिया जाता है। हैज़े, टायफ़ाइड व पेचिश के रोगियों के वस्त्र १:२० शक्ति के घोल में कम से कम एक घण्टे तक भिगोने के पश्चात् साधारण जल से धोकर धोबी को दिये जा सकते हैं। रोगियों के मल, मूत्र या अन्य स्रावों के लिए भी इसी शक्ति के घोल को प्रयोग करते हैं।

इसमें जीवाणुओं को मारने की प्रबल शक्ति होती है। आधुनिक सर्जरी में इसका बहुत प्रयोग है। इसमें चर्म के भीतर प्रवेश करके नीचे के भागों तक पहुँचने की उत्तम शक्ति है। इस कारण इसको रोगी के चर्म को शुद्ध करने, हाथों को शुद्ध करने तथा घावों को धोने के काम में भी लाते हैं। १:८० के घोल से घाव धोये जाते हैं। इससे धातु की वस्तु नहीं बिगड़ती। इसका मूल्य भी कम होता है।

'कार्बोलिक पाउडर' नामक एक लाल रङ्ग की बुकनी होती है। वह कार्बोलिक अम्ल को कुछ और वस्तुओं में मिला कर बनाई जाती है। वह अपनी गन्ध से दुर्गन्धि युक्त वस्तुओं की गन्धक को रोक देती है। किन्तु उसमें जीवाणुओं को मारने की शक्ति नहीं होती।

फ़िनायल, क्रियोसोल, सिलिन, आईज़ाल, लाईसौल, हाईकौल तथा क्रियोलीन भी विसंक्रामक वस्तु हैं जो अलकतरे ही से बनाई जाती हैं।

(३) फ़िनायल—में जीवाणु नाशक शक्ति बहुत है। इसको मोरियों, शौचस्थानों इत्यादि के धोने के काम में लाया जाता है।

(४) क्रियोसोल—कार्बोलिक एसिड की अपेक्षा तिगुना प्रबल है। इसका प्रयोग सैनिक विभाग में १:४० की शक्ति का घोल बना कर किया जाता है।

(९) चूना—साधारण और बुझे हुये-चूने दोनों में हैज़े और पेचिश या टायफ़ायड़ के जीवाणुओं के नष्ट करने की शक्ति होती है। मल में मुट्ठी भर चूना मिला कर उस पर इतना गरम जल डाल देना चाहिये कि चूना और मल दोनों गरम जल से ढक जायँ।

कुंवे के जल के शुद्ध करने के लिये भी चूने का प्रयोग किया जाता है। एक कुंवे में एक मन चूना डालना चाहिये। बुझे हुये चूने में साधारण चूने की अपेक्षा अधिक जीवाणु नाशक शक्ति होती है। कमरों में सफ़ेदी चूने ही से की जाती है जिससे दीवारों में लगे हुये जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

(१०) ब्लीचिंग पाउडर (Bleaching powder)—यह चूने में क्लोरीन गैस के पास करके वनाया जाता है। यह बहुत ही उत्तम सन्तोष जनक विसंक्रामक पदार्थ है। जल के सम्पर्क से इसकी आक्सीजन मुक्त होकर ऐन्द्रिक पदार्थों के नष्ट करती है जिससे जीवाणुओं का नाश होता है। किन्तु इस वस्तु में वायु मण्डल से आर्द्रता के शोषण करने का बड़ा गुण है। इस कारण इसको अधिक समय तक, विशेष कर वर्षा ऋतु में, नहीं रखा जा सकता। आर्द्रता या जल के सम्पर्क से यह वस्तु निष्क्रिय हो जाती है। इस कारण इसको सदा बन्द बोतल और पीपों में रखना चाहिये।

विसंक्रामण करने के लिये पाउडर के कमरे के फ़र्श पर छिड़का जाता है। यदि कमरे में कोई रोगी था तो १५ सेर जल में आधा सेर ब्लीचिंग पाउडर मिला कर उससे कमरे के फ़र्श और दीवारों को धोया जाता है। कुंवों का जल भी इससे शुद्ध किया जाता है। १००० गैलन जल के लिये २½ तोला चूर्ण काफ़ी है। उसको एक बाल्टी में घोल कर कुंवे में कई बार ऊपर नीचे खींचा जाता है जिससे वह कुंवे के जल में मिल जाता है।

(११) फ़ार्मेल्डीहाइड—यह वस्तु तरल और गैस दोनों रूपों में प्रयोग की जाती है। बाज़ार में तरल फ़ार्मेल्डीहाइड 'फ़ार्मेलीन' के नाम से बिकता

है। इसका २ प्रतिशत का घोल तीव्र विसंक्रामक और दुर्गन्धिनाशक होता है। गैस के रूप में भी यह जीवाणुओं का नाश करती है। किन्तु इससे नेत्र और गले में सूजन हो जाती है। नेत्रों में ये वाष्प बहुत लगते हैं। वस्त्रों पर इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता और न कोई धब्बा ही पड़ता है। उनका रङ्ग भी नहीं बिगड़ता। साधारण फ़ार्मेलिन को लेकर उसको गरम करने अथवा एक चौड़े मुँह के बर्तन में पोटास परमैंगनेट को रख कर उस पर फ़ार्मेलिन को डालने से गैस उत्पन्न होती है। यह बर्तन कमरे में किसी ऊँचे स्थान में रखना चाहिये। क्योंकि वाष्प भारी होने के कारण नीचे की ओर फैलते हैं। कमरे के दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द कर देनी चाहिये जिससे गैस के वाष्प बाहर न निकल सकें। इसकी टिकियाँ भी बाज़ार में 'पैराफ़ार्म टिकियों' के नाम से बिकती हैं; और उनको गरम करने के लिये साथ ही एक 'पैराफ़ार्म लम्प' आता है। लम्प को जला कर इन टिकियों को पास ही रख दिया जाता है। लम्प की गरम वायु तथा भाप ही से इन टिकियों से वाष्प निकलने लगते हैं। १०'×१०'×१०' घनफीट कमरे के विसंक्रामण के लिये ५ औंस पोटास परमैंगनेट और १० औंस फ़ारमेलीन पर्याप्त हैं। किन्तु जो मनुष्य पोटास परमैंगनेट पर फ़ारमेलीन डाले उसको तुरन्त ही कमरे से बाहर चला आना चाहिये।

फ़ार्मेल्डीहाइड से बहुत ही सन्तोष जनक विसंक्रामण होता है। यह वस्तु सस्ती भी है।

(१२) क्लोरीन—ब्लीचिंग पाउडर की क्रिया इस ही गैस पर निर्भर करती है। यह गैस हरे रंग की और वायु से भारी होती है। इसकी गन्ध अत्यन्त तीव्र होती है। नाक, कान, गले में इससे तुरन्त सूजन उत्पन्न हो जाती है। इससे वस्त्रों का रंग उड़ जाता है। ब्लीचिंग पाउडर पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल डालने से यह गैस उत्पन्न होती है। १००० घन फीट स्थान के लिये २ पौंड ब्लीचिंग पाउडर और १ पौंड हाइड्रोक्लोरिक अम्ल

की आवश्यकता है। इनको मिलाकर कमरे में एक ऊँचे स्थान पर रख कर कमरे के दरवाज़ों को बन्द कर देना चाहिये। कमरे से ऊन, रेशम तथा रंगीन वस्तुओं को हटा देना चाहिये।

(१३) सल्फ़र-डाई-आक्साइड—यह गन्धक की बत्तियों को, जो बाज़ार में बिकती हैं, जलाने से उत्पन्न होती है। १००० घन फीट स्थान के लिये डेढ़ या दो सेर गन्धक आवश्यक है। इसकी उत्तम क्रिया के लिये आर्द्रता की आवश्यकता होती है। इसलिये जिस बर्तन में गन्धक को जलाया जाय उसको एक चौड़े बर्तन में रख देना चाहिये जिस में जल भरा हो। इससे गैस जल के वाष्प ले लेगी। समान भाग गोबर और नीम की पत्तियों में गन्धक मिला कर उसके उपले बना लिये जायँ तो इन उपलों को जलाने से भी गैस उत्पन्न होती है।

इस गैस की क्रिया जीवाणुओं के संवहन करने वाले कीड़ों पर अधिक होती है। स्वयं जीवाणुओं पर उसकी इतनी पूर्ण क्रिया नहीं होती। प्लेग में चूहे, पिस्सू, खटमल इत्यादि मारने के लिये इसका विशेष प्रयोग किया जाता है। इस गैस से रेशम, ऊन तथा अन्य वस्तुओं का रंग जाता रहता है। पीतल, तांबा और गिलट की वस्तुयें इस गैस के प्रभाव से काली पड़ जाती हैं।

यदि घर में कोई बीमार हो तो क्या करना चाहिये—

यदि घर में कोई हैज़े, प्लेग, चेचक जैसे रोग से बीमार हो तो तुरन्त ही उसको एक अलग कमरे में पृथक् कर देना चाहिये। जहाँ तक हो यह कमरा मकान के शेष भाग से दूर हो। यदि सब से ऊपर के खंड पर हो तो और भी अच्छा है। इस कमरे को बिल्कुल साफ़ करवा कर उसमें से सब अनावश्यक वस्तुयें हटवा देनी चाहिये। केवल एक या दो कुर्सी, औषधि रखने के लिये एक मेज़, रोगी का पलंग, और एक स्टूल तथा दो चार आवश्यक बर्तन उस कमरे में रहें। कमरे के दरवाज़े और खिड़कियाँ खुली रहें और दरवाज़े पर किसी विसंक्रामक द्रव्य में भीगा हुआ

एक परदा टंगा रहे। कमरे में एक चौड़े मुँह के काँच या तामचीनी के वर्तन में विसंक्रामक घोल (Lotion) भरा रहे। जो लोग भी रोगी को छुवें, उसको भोजन औषधि इत्यादि दें, वे तुरन्त ही अपने हाथों के इस द्रव्य से धोयें। तत्पश्चात् कमरे से बाहर जायँ। रोगी की सेवा के लिये केवल वे ही व्यक्ति रहें जिनकी आवश्यकता हो। अधिक होने से रोगी को हानि पहुँचती है और रोग के फैलने का भी डर रहता है। रोगी के मल, मूत्र, थूक इत्यादि के लिये पात्र रहने चाहिये। इनके लिये विशेष तामचीनी के बने वर्तन आते हैं। उनमें थोड़ा विसंक्रामक लोशन डाल देना उचित है। रोगी के वस्त्रों के लिये भी एक बालटी में विसंक्रामक भरा रहना चाहिये। जो वस्त्र भी रोगी उतारे उसको प्रथम उस बालटी में दो घंटे तक पड़े रहने देना चाहिये। तत्पश्चात् उनको निकाल कर साबुन से धुलवा कर धोबी को दिया जाय। जिन वस्त्रों में मल श्लेष्मा लगा हो, यदि वे छोटे और पुराने हों तो उनको जला देना अत्युत्तम है। इन वस्त्रों के द्वारा भी रोग फैल सकता है। जो वर्तन रोगी के काम में आवें उनको कमरे के भीतर ही रखा जावे। शेष वर्तनों से उनको न मिलने दिया जाय तथा उनको विसंक्रामक लोशन में रोगी के प्रयोग के पश्चात् डाल दिया जाय।

रोगी के नीरोग या उसकी मृत्यु हो जाने पर कमरे तथा कमरे की सब वस्तुओं का पूर्ण विसंक्रामण आवश्यक है। गत पृष्ठों में जो वस्तुयें बताई जा चुकी हैं उनही में से किसी को उपयुक्त समझ कर चुन लेना चाहिये। कमरे के फ़र्श को धोने के लिये सिलिन, रसकपूर, फ़िनाइल इत्यादि उत्तम पदार्थ हैं। दीवारों को भी इनसे धोकर या इनको छिड़क कर उन पर गाढ़ी चूने की सफ़ेदी करवा दी जाय। फ़ार्मेलीन के वाष्पों से कमरा तथा उसमें की सब वस्तुयें सहज में शुद्ध की जा सकती हैं। जिन वस्तुओं को उबाला जा सके उनको उबालना चाहिये और जो जलाई जा सकें उनको जला देना सब से उत्तम है।

हमारे देश में रोगी से सहानुभूति दिखाने के लिये अनेकों लोग उससे

मिलने को आते हैं। यह बहुत बुरी प्रथा है जिससे रोगी को केवल हानि ही पहुँचती है तथा रोग फैलने का भय रहता है। जो लोग रोगी को देखने आवें वे केवल रोगी को बाहर से देख लें या सम्बन्धियों से मिलकर उनसे हाल चाल पूँछ कर चले जायँ।

रोग से मुक्त हो जाने के पश्चात् भी कुछ समय तक इन नियमों का पालन करना उचित है।

प्रश्न

१—विसंक्रामण से क्या अर्थ है? किन रीतियों से अशुद्ध वस्तुओं का विसंक्रामण हो सकता है? आप द्वारा किस प्रकार विसंक्रामण किया जाता है?

२—कुछ रासायनिक विसंक्रामकों के नाम लिखो। उनमें से जिसको तुम सब से उत्तम समझते हो उसके प्रयोग की विधि लिखो।

३—निम्न लिखित वस्तुओं का विसंक्रामण किस प्रकार करोगे:—
(१) ऊनी वस्त्र, (२) रेशमी वस्त्र, (३) लकड़ी का फर्नीचर (४) कमरे का फ़र्श तथा दीवारें, (५) पीतल के बर्तन (६) लिहाफ़, गद्दा, तथा सूती वस्त्र।

संक्रामक रोग

जैसा पहिले बताया जा चुका है रोग तभी फैलता है जब रोग के जीवाणु या विष शरीर में प्रवेश करते हैं; और ये जीवाणु या विष शरीर तक वायु, जल कीट तथा संसर्ग द्वारा पहुँचते हैं। इस प्रकार के रोगों को वायु, जल या कीट द्वारा संवाहित रोग कहा जाता है।

संक्रामक रोगों में दो और बातें भी पाई जाती हैं। रोग के जीवाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होने के कुछ समय के पश्चात् रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्लेग के जीवाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होने के ३ से १० दिन पश्चात् रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह जीवाणु के प्रवेश और रोग के लक्षण उत्पन्न होने के बीच का समय सम्प्राप्तिकाल (Incubation period) कहलाता है। इसी प्रकार रोग मुक्त होने के पश्चात् भी कुछ समय तक रोगी से स्वस्थ व्यक्तियों को रोग हो सकता है। यह 'संक्रामक काल' (Infective period) कहलाता है। प्रत्येक संक्रामक रोग में यह दोनों काल होते हैं जिनको जानना आवश्यक है।

अगले पृष्ठों में कुछ विशेष संक्रामक रोगों का वर्णन तथा उनसे बचने के उपायों का वर्णन किया जाता है।

वायु द्वारा फैलाने वाले रोग

(चेचक Small-pox)

इसको शीतला या बड़ी माता भी कहते हैं। यह एक अत्यन्त संक्रामक रोग है जिसमें उदर के निचले भाग, वक्ष के पार्श्व और उसके भीतर की ओर चर्म पर लाल दाने निकल आते हैं। ज्वर १०३ या १०४ डिगरी तक होता है। सिर दरद, वमन और पीठ में बड़ा दरद रहता है। तीन या चार दिन के पश्चात् ज्वर और ये दाने जाते रहते हैं किन्तु दूसरे दाने निकलते हैं जो रोग के विशेष दाने होते हैं ये प्रथम मुख पर, उसके पश्चात् उदर, वक्ष और अन्य स्थानों में

निकलते हैं दाने निकलने के पाँचवें या छठे दिन उनमें एक प्रकार का पानी सा भर जाता है। प्रत्येक दाना उठा हुआ, चमकता श्वेत रंग का होता है, किन्तु उसके शिखर पर गढ़ा होता है। आठवें या नवें दिन पर इन दानों में पस पड़ जाती है। दाने भर जाते हैं और उभरे हुये दीखते हैं। इस समय ज्वर फिर से हो जाता है. तथा दानों के चारों ओर मुँह इत्यादि पर सूजन हो जाती है। चौबीस घंटे के पश्चात् ज्वर कम होने लगता है। और दसवें या ग्यारहवें दिन से दानों का सूखना और खुरण्डों का गिरना आरंभ हो जाता है।

इस रोग के कई स्वरूप होते हैं। एक रूप में दाने इतने अधिक और बड़े होते हैं कि चेहरा विकृत हो जाता है। नाक, मुँह दिखाई नहीं देते। सूजन बहुत अधिक होती है। एक दूसरे रूप में दानों में रक्त भर जाता है। मुँह, नाक, गले, मूत्राशय, मलाशय तथा अन्य श्लैष्मिक कलाओं से रक्त निकलने लगता है। इस प्रकार के रोग में सदा मृत्यु हो जाती है।

इस रोग के विष का संवहन वायु द्वारा होता है। यह इतना तीव्र संक्रामक होता है कि जिनके टीका नहीं लगा है उनको किसी रोगी के पास बैठने से रोग अवश्य हो जाता है। ५ वर्ष से कम आयु वाले बालकों की प्रायः इस रोग से मृत्यु हो जाती है। स्त्री पुरुष बालक सबों को रोग समान रूप से होता है।

रोग का विष नाक और मुँह से निकलने वाले श्लेष्मा, तथा खुरण्डों में रहता है। इस कारण वह रोगी के खाँसने, छींकने, बातें करने तथा खुरंडों द्वारा बहुत दूर तक फैल सकता है।

रोग से बचने के उपाय—रोग होते ही रोगी को तुरन्त पृथक् कर देना चाहिये। उसके कमरे में परिचारकों के अतिरिक्त जिनके टीका लगा हो, कोई न जाने पावे। रोगी के वस्त्र इत्यादि पृथक् रहें तथा उसके रोग मुक्त होने पर जला दिये जायँ। रोगी के शरीर से गिरने वाले खुरंडों को जलाना बहुत आवश्यक है। रोगी के शरीर पर कारबोलिक एसिड

मिला कर वैसलीन मलने से खुरंड वायु में उड़ने न पायेंगे। वे आपस में चिपक कर शय्या पर ही रह जायँगे जहाँ से एकत्र करके उनको जला देना उचित है। इस कारण रोगियों को जब तक उनके शरीर से सारे खुरंट न अलग हो जायँ तब तक मकान से बाहर न जाने देना चाहिये। क्योंकि उससे रोग फैलने का भय रहता है। इस रोग का संक्रामक काल छः सप्ताह है। इसलिये छैः सप्ताह तक रोगी को पृथक् रखना चाहिये।

रोग से बचने का सब से बड़ा उपाय टीका लगवाना है। टीके के द्वारा शरीर में चेचक का विष प्रविष्ट किया जाता है जिससे रोग क्षमता के सिद्धान्त के अनुसार रक्त में इस विष को नष्ट करने वाले पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जिसने उस व्यक्ति को फिर रोग नहीं हो पाता। यदि होता भी है तो बहुत हल्का सा।

इसकी खोज सब से पहिले सन् १७९८ में जैनर ने की थी जो इंग्लैण्ड में डाक्टर था। उसने गौवों के थनों पर चेचक ही के समान फफोले देखे थे। साथ में उसने यह भी देखा कि जो ग्वाले उन गौवों को दुहते हैं उनको यह रोग नहीं होता। इसी पर उसने अन्वेषण करना आरम्भ किया, जिसमें उसको पूर्ण सफलता मिली। आज कल जिस वस्तु के टीके लगाये जाते हैं वह बछड़ों में चेचक उत्पन्न करके उनके फफोलों से तैयार की जाती है। आज कल यह टीका प्रत्येक देश में अनिवार्य कर दिया गया है। हमारे देश में इसके अनिवार्य करने से पूर्व १९ वर्ष तक एक लाख व्यक्ति में से ११९.८ की मृत्यु होती थी; किन्तु उसके पश्चात् से यह संख्या केवल ४४.५ रह गई। और अब और भी कम हो गई है।

यह टीका बाहु पर कुहनी के नीचे सामने की ओर लगाया जाता है। पैनी सुइयों से, जो एक हाथी दाँत के हैंडिल में लगी रहती है, बाहु के चर्म को छील दिया जाता है। उस पर हैंडिल के दूसरे चपटे सिरे से लिम्फ़ को, जो हमारे प्रान्त में पटवा डांगर में तैयार किया जाता है और बर्फ़ में रख कर सब स्थानों को भेजा जाता है, लगा दिया जाता है। दो या तीन

दिन पश्चात् वहाँ कुछ सूजन दिखाई देती है जिसमें विस्फोट या फफोले उत्पन्न हो जाते हैं। उनमें एक तरल पदार्थ भरा होता है। कई दाने मिल कर एक बड़ा विस्फोट बना देते हैं जिनमें स्वच्छ लिम्फ़ भरा होता है। नवें या दसवें दिन इनमें पस भर जाती है। तत्पश्चात् ये सूखने लगते हैं और चौदहवें दिवस तक सूख कर गिर जाते हैं। इस समय में इनकी इतनी रक्षा करनी चाहिये कि वे वस्त्र इत्यादि से रगड़ने न पावें और उन पर मक्खी न बैठें।

टीका जन्म होने के तीन दिन पश्चात् लगवाया जा सकता है। यदि नगर में रोग फैल रहा हो तो ऐसा ही करना चाहिये। साधारणतया जन्म के छः मास के भीतर टीका लगवा देना चाहिये। एक बार टीके से जो रोग क्षमता उत्पन्न होती है वह ८ या १० वर्ष तक रहती है। इसके पश्चात् फिर से टीका लगवाना आवश्यक है। एक बार चेचक हो जाने से जो क्षमता उत्पन्न होती है वह आयु पर्यन्त रहती है।

क़ानून के अनुसार बच्चों के टीका लगवाना अनिवार्य है। टीका न लगवाने से ५०) जुर्माने की सज़ा होती है।

ख़सरा (Measles)

ख़सरा भी चेचक ही की भाँति संक्रामक रोग है यद्यपि इसमें इतनी मृत्यु नहीं होती। इस रोग में चौथे या पाँचवें दिन शरीर पर लाल लाल दाने निकल आते हैं किन्तु इसमें शरीर पर कोई विस्फोट नहीं बनते। प्रथम ज्वर होता है, छींकें आती हैं, गले और नाक में सूजन हो जाती है जिससे नाक और मुँह से पानी गिरने लगता है। चौथे या पाँचवें दिन पर लाल रंग के दाने निकलते हैं। जो कुछ समय में आपस में मिल जाते हैं। सारा चर्म लाल दीखने लगता है। २४ से ४८ घण्टे तक रहने के पश्चात् यह दाने शांत हो जाते हैं। लाली जाती रहती है।

इस रोग का विष नाक और मुँह से निकलने वाले स्राव में रहता है और वायु तथा सम्पर्क द्वारा दूसरों को होता है। यह रोग अत्यन्त संक्रामक

है। यदि घर में एक बच्चे को होता है तो दूसरों को भी अवश्य ही हो
है। इस कारण जिस बच्चे को रोग हो जाय उसको पृथक् करना परमावश्
है: और जब तक नाली बिल्कुल न जाती रहे तब तक उसको दू
बच्चों से न मिलने देना चाहिये। यह रोग जाड़े और वसन्त ऋतु
अधिक होता है और अधिकतर बालकों तथा बच्चों को होता है। इ
रोग का सम्प्राप्ति काल १० से १२ दिन तक है।

इस रोग से बचने के लिये किसी प्रकार के टीके का आविष्क
नहीं हुआ है और न एक बार रोग होने से रोग क्षमता उत्पन्न होत
है। एक बालक को कई बार रोग होते देखा गया है। शारीरि
स्वच्छता. गले का साफ़ रखना, विसंक्रामक पदार्थों से कुल्ले करन
नाक को स्वच्छ रखना, किसी रोगी के पास न जाना, इत्यादि ही रोग
बचने के उपाय हैं।

छोटी चेचक या माता (Chicken-pox)

यह रोग चेचक ही के समान है किन्तु उससे बहुत हल्का होता है
इसमें शरीर पर थोड़े से दाने निकलते हैं जो विशेष कर मुख, वक्ष और
बाहुओं पर स्थित होते हैं। किन्तु दानों की आकृति चेचक के विस्फोट
के ही समान होती है। इस कारण हल्की चेचक से इसको
पहिचानना कठिन हो जाता है। किन्तु यह रोग चेचक से बिलकुल
पृथक् है। चेचक के टीके द्वारा इस रोग से तनिक भी रक्षा नहीं होती।
इसका संप्रातिकाल चौदह से सोलह दिवस और संक्रामक काल तीन
सप्ताह है।

इसमें ज्वर १००° या १०१° के लगभग होता है। कभी कभी १०
हो जाता है। दानों में विशेषता यह है कि जब शरीर के एक भाग पर के
दाने सूखने लगते हैं तब वे दूसरे भाग पर निकलते हैं। ये दाने जो
चेचक के दानों ही की तरह पकते हैं, निकलने के पश्चात् कुछ घण्टों ही
में पक जाते हैं और तीन या चार दिन ही में सूखकर गिरने लगते हैं।

रोग से रक्षा के कोई विशेष उपाय नहीं हैं। शारीरिक स्वच्छता, रोगियों को पृथक् कर देना तथा रोगियों से दूर रहना ही रक्षा के उपाय हैं। इस रोग में मृत्यु नहीं होती, किन्तु स्कूल आदि संस्थाओं में बड़ा कष्ट होता है। रोगियों को पृथक् करने का कड़ा नियम होना चाहिये। रोगी के शरीर पर वैसलीन मलना तथा खुरंडों को जला देना उचित है। रोग मुक्त होने पर रोगी को विसंक्रामक द्रव्य से स्नान कराना चाहिये।

डिफ्थीरिया (Diphtheria)

यह एक अत्यन्त भयानक और संक्रामक रोग है जो २ से १५ वर्ष के बालकों को अधिक होता है। यह रोग अक्तूबर और नवम्बर में अधिक होता है और इन्हीं महीनों में मृत्यु भी अधिक होती हैं।

इस रोग में प्रायः गले के भीतर एक मैले सफ़ेद रंग की झिल्ली बन जाती है। धीरे धीरे यह झिल्ली चारों ओर से बढ़ने लगती है जिससे गले का मार्ग बन्द होने लगता है और अन्त को झिल्ली इतनी बढ़ जाती है कि वायु तक के जाने का मार्ग नहीं रहता। बच्चे को श्वास लेने में बहुत कष्ट होता है और अन्त को श्वास न ले सकने के कारण मृत्यु हो जाती है। ज्वर १०३° या १०४° फेरनहीट रहता है। बच्चा बेसुध सा और दुर्बल दिखाई देता है।

यह रोग गले के अतिरिक्त नाक कान या अन्य अंगों में भी हो सकता है। वहाँ पर भी झिल्ली बनती है। श्वासावरोध के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। किन्तु शरीर में जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुये विष व्याप्त हो जाने से शारीरिक लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनसे रोगी की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग का कारण जीवाणु होते हैं जो वायु तथा संसर्ग द्वारा फैलते हैं। बहुत बार पेंसिल या होल्डरों द्वारा रोग फैला है। बच्चों को इन वस्तुओं को मुँह में देने की आदत होती है। इस कारण एक

से अनेकों को रोग हो जाता है जो लोग रोग ग्रस्त हो जाते हैं उनके गले में रोग से मुक्त हो जाने पर भी कुछ समय तक जीवाणु पाये जाते हैं। इस कारण यह लोग रोग फैलाने में बहुत बड़ा भाग लेते हैं।

रोग से बचने के उपाय—इस रोग से बचने का सब से निश्चित उपाय रोग के जीवाणुओं से तैयार किये हुये प्रतिविष (Antitoxin) का इंजेक्शन लेना है। जब रोग फैल रहा हो या किसी डिप्थीरिया के रोगी से संपर्क हुआ हो अथवा अन्य किसी प्रकार भी रोग उत्पन्न होने की संभावना मालूम हो तो तुरन्त यह इंजेक्शन लेना चाहिये अथवा बालकों को दिलवाना चाहिये। इस इंजेक्शन से यह निश्चय है कि रोग नहीं उत्पन्न होगा। रोग की चिकित्सा भी इसी इंजेक्शन द्वारा की जाती है। यदि रोगी की दशा बहुत बिगड़ नहीं चुकी है तो यह इंजेक्शन रोग की अचूक औषधि है।

रोगी को पृथक् कर देना, रोग के दिनों में ऐसे स्थानों में जैसे सिनेमा, थियेटर, सभा या जहाँ भी बहुत से व्यक्ति एकत्र होते हों वहाँ जाने की पूरी मनाही, पूर्ण स्वच्छता, गले की शुद्धि की ओर पूर्ण ध्यान देना इत्यादि अन्य उपाय हैं जिनको करना चाहिये। जब रोग फैल रहा हो तो ई० सी० लोशन (E. C. Lotion) से कुल्ले करते रहने से रोग से बचने में बहुत सहायता मिलती है। नाक और गले- दोनों की शुद्धि बहुत आवश्यक है। ऐसे यन्त्र बाज़ार में बिकते हैं जिनमें औषधि भर कर उसकी फुहारें किसी भी स्थान पर डाली जा सकती हैं। इनसे औषधि गले के निचले भाग तक पहुँच जाती है।

काली खाँसी (Whooping Cough)

इसको कुकुर खाँसी भी कहते हैं। यह रोग बच्चों को होता है। बच्चे की जितनी छोटी आयु होती है उस पर उतना ही बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक को ठहर ठहर कर खाँसी के दौरे से आते हैं। दिन में

चार पाँच वार से १५ या २० वार तक खाँसी के आक्रमण होते हैं। प्रत्येक आक्रमण कई मिनट तक रहता है। बालक का मुख खाँसते खाँसते लाल हो जाता है। बहुधा क़ै हो जाती है। कभी कभी बालक खाँसी के वेग के कारण मल त्याग तक कर देते हैं।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसका संवहन वायु द्वारा होता है। रोग प्रायः जाड़े के दिनों में फैलता है और एक बालक से दूसरे को होता है। यह रोग इतना संक्रामक है कि एक बालक को होने पर घर के दूसरे बालक रोग से नहीं बच पाते। खिलौने तौलिया, वर्तन से भी यह रोग फैलता है। स्कूल में यदि एक बालक को यह रोग या डिप्थीरिया होता है तो शीघ्र ही अनेकों बालक रोग ग्रस्त हो जाते हैं। इस कारण यदि किसी बालक को ये रोग हों तो उसका स्कूल आना तुरन्त ही बन्द कर देना चाहिये।

इस रोग का संम्प्राप्ति काल ७ से १० दिन और संक्रामक काल छः सप्ताह है। इस लिये बालक को रोग मुक्त होने के छः सप्ताह पश्चात् तक स्कूल में न आने देना चाहिये।

रोग से रक्षा के उपाय—रोगी को तुरन्त ही पृथक् कर देना चाहिये। दूसरे बालकों को उससे मिलने की अथवा पास आने की भी मनाही होनी चाहिये। रोग ग्रस्त बालक का स्कूल जाना तो तुरन्त ही वन्द होना चाहिये। रोगी के रोग मुक्त होने पर मकान का विसंक्रामण आवश्यक है।

कर्णफेर (Mumps)

यह रोग भी प्रायः बच्चों ही को होता है, यद्यपि बड़ों में भी देखा जाता है। इस रोग में कान के आगे और नीचे की ओर स्थित ग्रन्थि (Parotid Gland) में सूजन हो जाती है और ज्वर भी होता है। कभी कभी पास की दूसरी ग्रन्थियों में भी सूजन हो जाती है जो तीन या चार दिन तक रहती है। यह रोग अधिकतर अक्तूबर या नवम्बर में होता

है जब वायुमंडल शीत और आर्द्र होता है। एक आक्रमण से रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है, दूसरा आक्रमण बहुत कम देखने में आता है।

रोग ग्रस्त बालक को दूसरे बालकों से पृथक् रखना चाहिये। रोग से मुक्त होने के ३ सप्ताह पश्चात् तक उसको बालकों से न मिलने देना चाहिये।

इसका संप्राप्तिकाल ३ सप्ताह और संक्रामक काल छः सप्ताह है।

इनफ्लुएँज़ा

इस रोग के दो रूप पाये जाते हैं। एक तो साधारण रोग जो ठंढ लगने पर हो जाता है। हल्का सा ज्वर १००° से १०२° तक, छींके आना, नाक बहना, गले में हल्की सी सूजन, खाँसी के साथ कुछ श्लेष्मा (बलग़म) निकलना, तथा सिर और सारे शरीर में पीड़ा, ये इस रोग के साधारण लक्षण होते हैं। ४ या ५ दिन में रोग शान्त हो जाता है और रोगी निरोग हो जाता है यद्यपि नाक का बहना और श्लेष्मा तथा खाँसी कुछ और समय तक रहती है।

रोग का दूसरा रूप वह है जो महामारी (Epidemic) के रूप में तीस या पैंतीस साल के अन्तर पर सारे संसार में फैलता है। सन् १८४७, १८९०-९१, और १९१८ में इसी प्रकार रोग सारे संसार में फैल चुका है। किन्तु १९१८ के समान इस रोग ने कभी भयंकर रूप नहीं धारण किया था। उस वर्ष केवल हमारे देश में १२½ लाख मृत्यु हुई थीं। इङ्गलैण्ड और वेल्स में डेढ़ लाख मनुष्य इस रोग के ग्रास बने। रोग बारूद में लगी हुई अग्नि की भाँति सारे संसार में फैला था। रोग अप्रैल मास में स्पेन में प्रारंभ हुआ। हमारे देश में प्रथम बार जुलाई में बम्बई में हुआ और वहाँ से कुछ ही सप्ताह में सारे देश में फैल गया। इसकी दूसरी लहर जो सितम्बर में पूना से प्रारम्भ हुई अत्यन्त घातक थी। जितनी मृत्यु २३ वर्ष में प्लेग से नहीं हुई उतनी चार या पाँच मास में इनफ्लुएंज़ा से हो गई।

रोग को रोकने के उपाय—इस रोग की महामारी इतनी शीघ्रता से फैलती है कि उसको रोकने के लिये कोई भी प्रबन्ध संभव नहीं है। रोगियों को पृथक् करना, और उनकी सेवा-शुश्रूषा का उचित आयोजन करनाँ ही अत्यन्त कठिन हो जाता है। सन् १६१८ में जब रोग फैला था तो रोगियों को जल तक मिलना कठिन हो गया था, औषधि की बात तो दूर रही। परिवार के सब व्यक्ति रोग से ग्रस्त पड़े थे। कभी कभी मृत्यु के पश्चात् कई दिन तक कोई उठाने वाला नहीं मिलता था। ऐसी दशा में कोई भी सार्वजनिक कार्य करना असंभव है। किन्तु यदि रोगी स्वयं रोग से अपनी रक्षा करना चाहे तो उसको सफलता मिलना बहुत,कुछ संभव है।

प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि रोग के दिनों में वह सभा, सिनेमा, मेले आदि या जहाँ भी बहुत से लोग एकत्र होते हों, न जावे, न किसी रोग ग्रस्त व्यक्ति के पास बैठे। शुद्ध वायु रोग को रोकने के लिये अत्यावश्यक है। रात्रि को सोने के कमरे की खिड़कियाँ खुली रहें। बरामदे में सोना और भी उत्तम है। जितने भी वस्त्र आवश्यक हों ओढ़े जा सकते हैं। अन्य रोगों की भाँति इस रोग के निवारण में भी शारीरिक शक्ति बहुत भाग लेती है। गले और नाक को साधारण नमक को जल में मिलाकर उससे स्वच्छ करना चाहिये दिन में तीन या चार बार कुल्ले करने चाहिये। इसी को नाक द्वारा ऊपर चढ़ाना चाहिये जिससे नाक स्वच्छ रहे। यदि किसी रोगी के पास जाना पड़े तो नाक और मुँह पर एक मलमल का टुकड़ा यूकलिप्टस तैल लगा कर रख लेना चाहिये। ठंढ लगने से रोग उत्पन्न हो जाता है। ठंढ तभी लगती है जब गरम वायु मंडल से अकस्मात् ठंढे में या ठंढे से गरम में जाना पड़ता है। साधारण रोग से बचने के लिये भी यूकलिप्टस तैल में भीगा हुआ वस्त्र नाक पर रखना उत्तम है।

इस रोग का प्रभाव हृदय पर बुरा पड़ता है। इस कारण रोग होते ही तुरन्त काम को छोड़ कर शय्यारूढ़ हो जाना चाहिये और जब तक रोग

में छोटे छोटे मकानों में रहना, जिनमें शुद्ध वायु का पूर्ण प्रवेश न हो, अथवा थोड़े स्थान में बहुत से मनुष्यों का साथ रहना, शरीर की दुर्बलता. इस रोग के किसी रोगी के साथ रहना, तथा अन्य सब दशायें जिनसे किसी भी प्रकार शरीर दुर्बल होता है इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होती हैं। परदा स्त्रियों में रोग का एक विशेष कारण है। जिन प्रान्तों या जातियों में परदे की प्रथा है उनमें यह रोग स्त्रियों में कहीं अधिक पाया जाता है। कलकत्ते में १५ और २० वर्ष की आयु में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में छः गुणा अधिक होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को रोग अधिक होने का कारण यही है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा घर ही में अधिक समय रहना पड़ता है जिससे उनको शुद्ध वायु के मिलने का कोई अवसर नहीं मिलता। बाल विवाह भी रोगोत्पत्ति में विशेष सहायक है। इस विवाह से लड़के लड़की दोनों के स्वास्थ्य बिगड़ जाते हैं। फिर सन्तानोत्पत्ति शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाती है जिससे विशेषकर लड़कियों के शरीर की सहन शक्ति नष्ट हो जाती है और वे रोग का ग्रास बन जाती हैं।

रोग के रूप—सब से अधिक यह रोग फुस्फुस ही में होता है। खाँसी, ज्वर और बढ़ती हुई दुर्बलता ही इसके विशेष लक्षण हैं। इसी को साधारणतया तपेदिक कहा जाता है।

इसका दूसरा रूप वह है जो अंत्रियों में होता है। यह बालकों में अधिक होता है। क़ब्ज़ रहता है, अथवा पतले दस्त आते हैं। उदर में दरद होता है। पेट कड़ा पड़ जाता है। ज्वर रहता है। शरीर क्षीण होने लगता है।

यह रोग अस्थियों तथा सन्धियों को भी आक्रान्त करता है, और शरीर के किसी भी भाग में हो सकता है। वृक्क भी इस रोग से नहीं बच पाते।

पशुवों को भी यह रोग होता है और Bovine tuberculosis कहलाता है। यह गौवों में अधिक होता है। कुछ विद्वान रोग ग्रस्त गौवों के दूध ही को अंत्रियों के राजयक्ष्मा का कारण मानते हैं।

रोग को रोकने के उपाय—इस रोग से जितनी व्यक्तिगत तथा जातीय हानि होती है उतनी दूसरे किसी रोग से नहीं होती। इस कारण इस रोग को नष्ट करने के लिये सरकार और जनता दोनों की ओर से मिल कर प्रयत्न होना चाहिये। इस ओर जितना भी प्रयत्न किया जा सके कम है। इस रोग की चिकित्सा बहुत लम्बी है और उसमें बहुत व्यय की आवश्यकता है जिसको निर्धन व्यक्ति तो क्या मध्यम श्रेणी वाले भी नहीं कर सकते। इस कारण इन रोगियों की चिकित्सा के लिये विशेष अस्पताल तथा सेनेटोरियम होने चाहिये। जनता में इस रोग के संबंध में छोटे छोटे ट्रैक्ट छपवा कर बाँटे जायँ जिससे जनता में इस रोग के संबंध में ज्ञान फैले और वे रोग से बचने के उपायों को जानें। स्कूल की पुस्तकों में इस सम्बन्धी लेख होने चाहिये। स्कूल के विद्यार्थियों की समय समय पर किसी डाक्टर द्वारा परीक्षा होनी चाहिये। जो बालक रोग से ग्रस्त पाये जायँ या जो दुर्बल हों उनको कुछ समय के लिये स्कूल छुड़वा कर उनकी चिकित्सा का आयोजन करना चाहिये। ग़रीब विद्यार्थियों को स्कूल की ओर से दूध मिलना चाहिये।

यह बताया जा चुका है कि शारीरिक दुर्बलता रोग होने का विशेष कारण है। इस कारण जिस प्रकार भी हो शारीरिक स्वास्थ्य उन्नत करना चाहिये। शुद्ध वायु में रहना, खुली हुई वायु में व्यायाम करना, विशेष कर श्वास संबंधी व्यायाम जिनमें वायु को भीतर खींच कर, कुछ समय तक रोक कर, फिर उसको बाहर निकाला जाता है, उत्तम पौष्टिक भोजन, स्वच्छ वस्त्रों को पहिनना, शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि तथा नियमित जीवन क्रम ही रोग को रोकने के उपाय हैं। जो ग़रीब लोग इन सब का प्रबन्ध नहीं कर सकते उनको सरकार अथवा सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से इन सब बातों के लिये सहायता मिलनी चाहिये।

जिन लोगों को किसी रोगी के साथ उसकी शुश्रूषा के लिये रहना पड़े, उनको विशेष सावधान होने की आवश्यकता है। रोगी के पास रहने के समय उनको अपनी नाक पर एक जाली का बना हुआ त्रिकोण,

जो इसीलिये आता है, लगाना चाहिये। इसके भीतर औषधि से भीगी हुई रुई रहती है। रोगी के थूक या बलग़म के लिये एक तामचीनी का ढकनेदार पात्र हो जिसमें १:२० शक्ति का कार्बोलिक लोशन भरा रहे। रोगी उस ही में थूके। बलग़म उसमें एकत्र करके जला देना चाहिये।

आँख दुखना (Sore Eyes)

यह रोग प्रायः अस्वच्छता के कारण उत्पन्न होता है। अथवा किसी रोगी से संक्रमण नेत्रों में पहुँच जाता है। नेत्र लाल हो जाते हैं। पलक सूज जाते हैं। नेत्रों से गाढ़ा श्वेत रंग का स्राव निकलता रहता है जिससे पलक आपस में चिपक जाते हैं। यदि यह रोग बहुत दिनों तक रहता है तो पलकों के भीतर की ओर छोटे छोटे दाने हो जाते हैं जिसको रोहे कहते हैं। इन रोहों से नेत्र के काले भाग पर घाव पड़ जाते हैं जिनको Corneal ulcer कहा जाता है। आगे चल कर इनसे मनुष्य अंधा तक हो जाता है।

धूल के कणों का आँखों में गिरना रोग का विशेष कारण होता है। इस कारण नेत्रों को स्वच्छ रखना चाहिये। नित्य प्रति ठंढे जल से नेत्रों को धोना चाहिये। फिटकरी या त्रिफले के जल से धोना और भी उत्तम है। बालकों को यह रोग अधिक होता है। यदि रोग हो जाय तो किसी डाक्टर की सलाह से उसकी चिकित्सा का तुरन्त प्रबन्ध करवाना चाहिये।

जल और भोजन द्वारा संवाहित रोग

हैज़ा (Cholera)

यह अत्यन्त तीव्र रोग है जिससे कभी कभी कुछ घंटों में और साधारणतया दो या तीन दिन में मृत्यु हो जाती है। इस रोग में वमन (क़ै) और दस्त होते हैं। क़ै में प्रथम जो भोजन किया होता है वह निकलता है ; तत्पश्चात् केवल जल के समान रंगरहित पदार्थ निकलता

है। दस्तों में भी केवल चावल के मांड के समान जल निकलता है। इनको Rice Water Stools कहा जाता है। जितना रोग तीव्र होता है उतने ही दस्त और वमन अधिक होते हैं। मूत्र बिल्कुल रुक जाता है। टांगों की पेशियों में कठिन पीड़ा और ऐंठन होती है, और अन्त को हृदय बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको Vibrio Cholera कहते हैं। यह देखने में मुड़ा हुआ अंग्रेज़ी के , (Coma) के समान दिखाई देता है। माइक्रोस्कोप में ताज़ा मल में ये बड़ी तेज़ी से गति करते दिखाई देते हैं। ये सदा रोगियों के मल में रहते हैं और वहाँ ही से जल में अथवा भोज्य पदार्थों में पहुँच जाते हैं।

रोगी के परिचारकों की असावधानता ही से रोग के जीवाणु जल में पहुँचते हैं। वे लोग रोगी के वस्त्रों को अथवा बर्तनों को तालाब या कुएँ पर लेजा कर धोते हैं जिनसे जीवाणुयुक्त मल जल में पहुँच जाता है। बहुत बार रोगियों का मल नदियों में फेंक दिया जाता है। कभी कभी स्वयं रोगी रोग की प्रारंभिक दशा में कुएँ के पास ही मल त्याग करके हाथ मुँह धोने के लिये कुएँ पर चले जाते हैं जिससे कुएँ का सारा जल दूषित हो जाता है। मेलों के पश्चात् जो रोग फैलता है वह इसी प्रकार फैलता है। मेले से जब रोगी लौटते हैं तो वे रास्ते भर जहाँ जहाँ भी ठहरते हैं वहाँ रोग फैलाते चले जाते हैं।

मक्खियाँ जिस प्रकार रोग फैलाती हैं वह पहिले ही बताया जा चुका है। हमारे प्रान्त में रोग वर्षा ऋतु में अधिक फैलता है। बंगाल में अप्रैल, मई और जून और पंजाब में वर्षा ऋतु में यह रोग होता है।

यह रोग प्रत्येक अवस्था में स्त्री, पुरुष, बालकों को समान रूप से होता है। ठण्ढ लगना, शरीर का दुर्बल होना, गन्दे स्थानों में रहना, कच्चे या अधिक पके हुए फल तथा अपच्य भोजन रोग उत्पन्न होने में सहायता देते हैं। यह पाया गया है कि आमाशय के ख़ाली होने पर जीवाणु तुरन्त ही रोग उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु आमाशय में जब

कुछ भोजन होता है तो वहाँ पर अम्ल की उपस्थिति के कारण रोग सहज में नहीं उत्पन्न हो पाता। आमाशय का अम्ल जीवाणुओं का नाश करता है।

दूध भी रोग को फैलाने में बहुत भाग लेता है। किन्तु दूध में जीवाणु सदा दूषित जल ही के द्वारा पहुँचते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि रोग से मुक्त होने के पश्चात् भी उनके मल में जीवाणु उपस्थित रहते हैं। ये लोग रोग वाहक (Carriers of Disease) कहलाते हैं। रोग को फैलाने में ये विशेष भाग लेते हैं। ऐसे व्यक्ति रसोई पकाने के काम पर कभी भी नियुक्त न होने चाहिये।

रोग से बचने के उपाय—रोग भोजन और जल द्वारा ही फैलता है। डाक्टरों, नर्सों और जो भी रोगी की सेवा करते हैं उनको अपनी अंगुलियों ही द्वारा रोग हो सकता है। किन्तु यह रोगी को छूने के पश्चात् हाथों को स्वच्छ न करने से होता है। अतएव भोजन और जल के संबंध में पूर्णतया सावधान रहने से रोग से रक्षा होती है। केवल गरम और ताजा भोजन करना चाहिये। रखे हुये ठंढे भोज्य पदार्थ, कच्चे अथवा अधिक पके हुये फल, गरिष्ठ भोजन, बाज़ार की बनी हुई मिठाई, मलाई, और दूध का बरफ़ निषिद्ध वस्तुएँ हैं। दूध को सदा उबाल कर गरम गरम पीना चाहिये। जल भी उबला हुआ ही प्रयोग करना उचित है।

जो फल बाज़ार से लिये जायँ उनको आध घंटे तक पोटासपरमैंगनेट के जल में भिगो कर खाना चाहिये। यदि रोग के दिनों में यात्रा करनी पड़े तो जल न पीकर चाय या लैमनेड या डाब का पानी पीना चाहिये। किन्तु लैमनेड तीन दिन पूर्व तैयार की हुई हो। यदि ये कुछ भी न मिलें तो जल में पोटासियम परमेंगनेट मिला कर पीना चाहिये।

हैज़े का टीका—प्लेग के समान हैज़े का भी टीका लगाया जाता है। इससे रोग को रोकने में बहुत सफलता मिली है। सेना विभाग में वह अनिवार्य है। यह वस्तु हैज़े के जीवाणुओं से ही बनाई जाती है

और उसका इंजेक्शन दिया जाता है जिससे रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

इन व्यक्तिगत उपायों के साथ साथ सारे नगर का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। जब तक यह न होगा तब तक व्यक्तिगत उपाय सफल नहीं हो सकते। कुएँ, तालाब तथा अन्य स्थान, जहाँ से भी जल लिया जाता हो, वहाँ की पूर्ण शुद्धि होनी चाहिये।

पीने के लिये जो जल मिले वह पूर्णतया शुद्ध हो। जिन दुकानों पर खाने के पदार्थ बिकते हैं उनका पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। जहाँ भी कोई सड़ी गली या अशुद्ध वस्तु हो उसको तुरन्त फेंका जाय और दुकानदार पर जुर्माना हो। रोगियों के पृथक् करने तथा उनकी उचित चिकित्सा का प्रबन्ध होना चाहिये। साथ में जनता में रोग सम्बन्धी ज्ञान फैलाया जाय। नगर की स्वच्छता, मक्खियों के नाश तथा जनता के टीका लगाने का पूरा प्रबन्ध करना आवश्यक है।

मोतीझरा (Typhoid)

इस रोग में २१ या २८ दिन तक निरन्तर ज्वर चढ़ा रहता है। किसी समय भी नहीं उतरता। ज्वर प्रथम सप्ताह में नित्यप्रति आधा या एक डिगरी बढ़ता है। दूसरे सप्ताह में ज्वर एक समान रहता है। प्रातः और सायंकाल के ज्वर में बहुत थोड़ा अन्तर होता है। तीसरे सप्ताह में ज्वर कम होना आरम्भ होता है और धीरे धीरे तीसरे सप्ताह के अन्त तक उतर जाता है। कभी चार, पाँच या छः सप्ताह तक ले लेता है। शरीर पर दूसरे सप्ताह के अन्त में बड़े बड़े लाल रंग के दाने निकल आते हैं जिनको Rosespots कहते हैं। किन्तु यह ३०% से अधिक रोगियों में नहीं देखे जाते। दूसरे सप्ताह में पतले दस्त भी आने लगते हैं। यही सप्ताह सब से अधिक भयंकर होता है। अंत्रियों में घाव पड़ जाते हैं और कभी कभी इतने गहरे हो जाते हैं कि घाव के स्थान में छेद हो जाता है जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको Bacillus typhosus कहते हैं। यह अंगुली, भोजन और मक्खियों (Finger, food and flies) द्वारा आमाशय में पहुँच कर अंत्रियों में पहुँच जाता है और वहाँ रोग उत्पन्न करता है। यह रोगी के मल, मूत्र, वमन, स्वेद इत्यादि में उपस्थित मिलता है। सब से अधिक मल में होता है और उस ही के द्वारा फैलता है। इसके अतिरिक्त दो और जीवाणु होते हैं जो इससे मिलते जुलते होते हैं। ये मोतीझरे के ही समान ज्वर उत्पन्न करते हैं। किन्तु ये रोग इतने भयंकर नहीं होते। प्रायः दो सप्ताह या इससे कम ही समय में ज्वर उतर जाता है। इनको Para-typhoid—A और Para-typhoid—B कहते हैं। इन रोगों के भी हैज़े के समान रोग वाहक व्यक्ति पाये जाते हैं।

हमारे देश में यह रोग ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में अधिक फैलता है और १५ और २५ वर्ष की आयु में अधिक होता है, यद्यपि अन्य सब आयु में भी पाया जाता है। पुरुष, स्त्री, बालक सबों को रोग एक समान होता है।

इसका संप्राप्तिकाल १२ या १४ दिन से लेकर ३० दिन तक हो सकता है।

रोग को रोकने के उपाय—रोगी को तुरन्त पृथक् करना चाहिये। उसके मल मूत्र श्लेष्मा को नष्ट करने का विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक है। जिन पात्रों में वह इनको त्याग करे उनमें कारबोलिक लोशन या ईलैक्टोरिटिक क्लोरीन लोशन अथवा कोई अन्य लोशन भरा रहे। रोगी के वस्त्रों को उसके प्रयोग के पश्चात् विसंक्रामक लोशन में भिगो देना चाहिये। यदि हो सके तो उनको जला दिया जाय। रोगी के वर्त्तनों को भी उबालना आवश्यक है।

मक्खियों से भोजन की वस्तुओं तथा सारे मकान की रक्षा करनी चाहिये। मकान के पास जो भी गन्दे स्थान हों उनको भरवा कर स्वच्छ करवा देना उचित है। जब नगर में रोग फैला हो तो ताज़ा गरम भोजन करना उचित है। स्वास्थ्य उन्नत रहने से रोग से बचने में भी सहायता मिलती है।

रोग का टीका—हैज़े की भाँति इस रोग के रोकने के लिये भी इसके जीवाणुवों से एक वैक्सीन (Vaccine) तैयार की जाती है जिसके इंजैक्शन से रोग नहीं होता। यदि होता भी है तो बहुत हल्का। यूरोप के महासमर में इसका बहुत प्रयोग किया गया था और उसके संतोषजनक परिणाम निकले थे।

पेचिश—ख़ून आँव के दस्त (Dysentery)

इस रोग में उदर में पीड़ा और ऐंठन होती है और ऐंठन के साथ दस्त आते हैं। मल के साथ श्लेष्मा (आँव Mucus) मिला रहता है। बहुधा रक्त भी आता है।

यह रोग दो प्रकार का होता है। एक जीवाणुवों (B.Dysenterdc) के कारण उत्पन्न होता है और दूसरा अमीबा (Amoeba) नामक जीव के कारण होता है। ये दोनों भोजन के साथ अंत्रियों में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुये रोग में प्रतिदिन १५-२० से लेकर १०० या इससे भी अधिक दस्त आते हैं। उदर में तीव्र ऐंठन और पीड़ा होती है। रोगी को शौच स्थान से उठना कठिन हो जाता है। ज्वर कभी कभी १०३° या १०४° हो जाता है। दस्त में मल बहुत कम रहता है। रक्त और आँव ही आते हैं। प्रत्येक समय जब रोगी मल त्याग को बैठता है तो थोड़ा सा रक्त और श्लेष्मा गिर जाता है।

अमीबा नामक जीव के कारण उत्पन्न हुये रोग में इतने दस्त नहीं आते। चौबीस घंटे में तीन या ४ बार मल त्याग होता है। ऐंठन भी उतनी नहीं होती। रक्त और आँव के साथ मल निकलता है। रोगी को ज्वर नहीं होता। किन्तु यह रोग बहुत समय तक चलता है।

रोग को रोकने का उपाय—ये दोनों रोग मक्खियों और अस्वच्छता के कारण उत्पन्न होते हैं। इनका संवहन मोतीझरे ही की भाँति होता है। अतएव इन रोगों को रोकने के लिये भी वही सब उपाय करने चाहियें।

मक्खियों का नाश, उनसे सारे मकान और विशेष कर भोजन पदार्थों की रक्षा, और मकान में तथा मकान के चारों ओर स्वच्छता ही रोग निवृत्ति के साधन हैं।

नगर की स्वच्छता तथा मक्खियों से नगर को मुक्त करने के लिये म्यूनिसिपेलिटी की ओर से पूरा प्रबन्ध होना चाहिये। सार्वजनिक और व्यक्तिगत उपाय दोनों साथ साथ होने आवश्यक हैं।

अतिसार (Diarrhoea)

ये रोग अनेक कारणों से उत्पन्न हो जाता है ; और वर्षा ऋतु में यह रोग अधिक फैलता है।

यह रोग बच्चों को अधिक होता है और १ मास से ५ वर्ष की आयु वालों में सब से अधिक पाया जाता है। इससे बच्चों की बहुत मृत्यु होती है।

इस रोग में फटे फटे अथवा हरे रंग के पतले दस्त आते हैं। दस्तों की संख्या ८ या दस से २५ व इससे भी अधिक होती है। बच्चे को ज्वर भी रहता है किन्तु वह अधिक नहीं होता।

जिन बच्चों को ऊपरी दूध मिलता है उन ही को यह रोग होता है, माता का दूध पीने वाले बच्चों में बहुत कम पाया जाता है। इस रोग को उत्पन्न करने वाले कई जीवाणु होते हैं।

रोकने के उपाय—बच्चे को यदि गौ का दूध देना पड़े तो उसमें अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। रखा हुआ दूध कभी न देना चाहिये। रोगी के मल मूत्र को सदा ऐसे पात्र में डालना चाहिये जिसमें कोई विसंक्रामक पदार्थ भरा हो।

मक्खियों से रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। भोज्य पदार्थों के संबंध में हैज़े के लिये बताये हुये सब उपायों को करना चाहिये।

कीट पतंगों द्वारा संवाहित रोग

मैलेरिया

यह रोग हमारे देश के सब भागों में होता है। वर्षा ऋतु के पश्चात अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर आदि महीनों में, जब जहाँ तहाँ जल भरा रहता है, यह रोग विशेष कर बड़े वेग से होता है। यों तो वर्ष भर होता रहता है। यहाँ तक कि बच्चा बच्चा इस रोग के नाम से परिचित है। गाँवों में इसको तिजारी बुख़ार के नाम से पुकारते हैं क्योंकि प्रायः इसमें तीसरे दिन ज्वर आता है। इसको जूड़ी का ज्वर भी कहा जाता है।

इस रोग में प्रायः तीसरे दिन ज्वर (Tertian) आता है। रोग का एक 'चतुर्थक' (Quartan) रूप भी होता है जिसमें ज्वर चौथे दिन आता है। एक तीसरे रूप का ज्वर ऐसा होता है जिसमें कोई विशे क्रम नहीं होता और न उसके लक्षण ही निश्चित होते हैं। बहुध इससे मृत्यु हो जाती है। इसको 'घातक तृतीयक' (Malignant Tertian) रूप भी कहते हैं।

रोग के आक्रमण के समय प्रथम जाड़ा लगता है। लगभग आध घंटे तक बड़ा तीव्र जाड़ा लगता रहता है। रोगी को कई कम्बल या लिहाफ़ ओढ़ने पड़ते हैं। उसके पश्चात् गर्मी मालूम होती है। ज्वर बढ़ जाता है। १०३°, १०४° या १०५° फ़ैरनहीट हो जाता है। तीन या चार घंटे तक ज्वर वैसा ही बना रहता है। उसके पश्चात् पसीना आने लगता है और ज्वर कम होना आरंभ होता है। लगभग आध घंटे में ज्वर उतर जाता है। तृतीयक रूप में यह क्रम तीसरे दिन होता है। चतुर्थक में चौथे दिन होता है। और 'घातक तृतीयक' में ज्वर का कोई भी क्रम निश्चित नहीं है। ज्वर २४ या ४८ घंटे

बराबर चढ़ा रहता है। कभी कभी और भी अधिक समय तक चढ़ा रहता है। कभी २४ घंटे में दो बार चढ़ता उतरता है। पहिले दोनों रूपों में ज्वर एक ही निश्चित समय पर आता है।
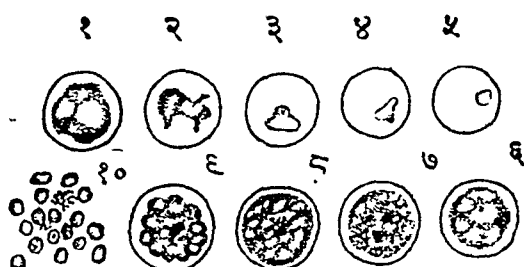
पराश्रयी (Parasite) की वृद्धि की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ—चित्र ३६

इस रोग का कारण एक पराश्रयी होता है जिसका कुछ वर्णन मच्छर के संबंध में किया जा चुका है। भिन्न भिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न करने वाले पराश्रयी भी भिन्न होते हैं। जब यह पराश्रयी मच्छर द्वारा रक्त में प्रविष्ट कर दिया जाता है तो वह रक्त के लाल कण में घुस जाता है। वहाँ उसके शरीर के आकार में वृद्धि होती है और अन्त को वह कितने ही छोटे भागों में विभक्त हो जाता है, जिनमें से प्रत्येक से एक छोटा पराश्रयी बन जाता है। अन्त को ये लाल कण को फाड़ कर बाहर निकल आते हैं और फिर से नये लाल कणों में प्रवेश करते हैं। एक लाल कण में एक ही पराश्रयी प्रवेश करता है। फिर पूर्ववत् चक्रआरंभ हो जाता है। यह अमैथुनी चक्र (A sexual cycle) कहलाता है।
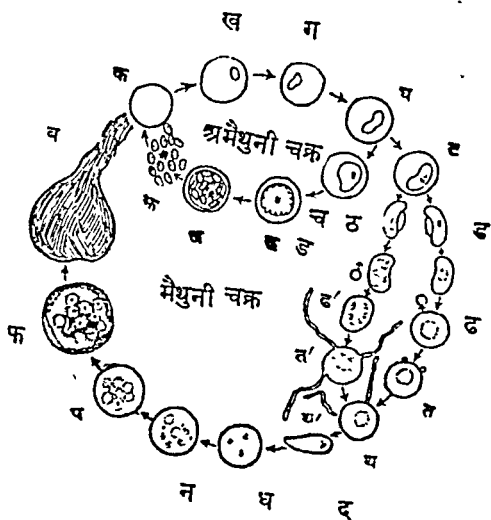
मैलेरिया पराश्रयी का अमैथुनी और मैथुनी जीवन चक्रों का कल्पित चित्र। क, रक्त का लाल कण; ख, ग, घ, कण के भीतर पराश्रयी की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ; च, छ, ज, झ, स्पोरोज़ाइट की उत्पत्ति। ट, व्यवायक, ठ, ड, ढ, त, थ, नर व्यवायक; ठ. ड, ढ, त, थ, मादा व्यवायक; द, ऊकाइनीट; ध, ज़ाइगोट; न, प, ऊसिस्ट जिनमें पराश्रयियों की उत्पत्ति हो रही है; फ, परिपक्व ऊसिस्ट; ब, पक्व ऊसिस्ट के फटने से नवीन पराश्रयी निकल रहे हैं जो रक्तकण में प्रवेश करते हैं।—चित्र ३७

कुछ समय तक होने के पश्चात् यह चक्र समाप्त हो जाता है। पराश्रयियों में विभक्त होने की शक्ति जाती रहती है। उस समय पराश्रयी एक विशेष रूप धारण कर लेते हैं जो Gametocytes कहलाते हैं। इनमें मादा और नर दोनों रूप होते हैं। इस समय इनको मच्छर के शरीर की आवश्यकता होती है। मनुष्य के शरीर में वे अधिक वृद्धि नहीं। यदि इस समय रोग को ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर काटता

है तो वे उसके शरीर में पहुँच कर मादा और नर दोनों रूप मिल कर एक हो जाते हैं।

इन दोनों के मिलने से जो पिंड बनता है उसका एक सिरा नोकीला होता है जिससे वह आमाशय की दीवार में छेदता हुआ घुस जाता है। वहाँ पर उसका आकार बढ़ता है और उसके शरीर में अनेकों भाग होने से छोटे छोटे पराश्रयी बन जाते हैं जो मच्छर की लाल ग्रन्थियों (Salivary glands) में जाकर एकत्र हो जाते हैं। जब मच्छर किसी को काटता है तो ये पराश्रयी उस व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होकर फिर पूर्ववत् क्रम आरंभ कर देते हैं। यह मैथुनी चक्र (Sexual cycle) कहलाता है।

रोग से बचने के उपाय—ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट है कि मैलेरिया बिना ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छर के नहीं हो सकता। रोग के फैलने के लिये इस विशेष मच्छर की आवश्यकता है। अतएव यदि मच्छरों को नष्ट कर दिया जाय तो रोग स्वयं ही बन्द हो जायगा। मच्छरों के नाश के उपाय मच्छर के वर्णन के संबंध में बताये जा चुके हैं। अनेकों स्थान पर उन उपायों द्वारा रोग बहुत घट गया तथा समूल नष्ट हो गया है।

दूसरा उपाय रोग के कारण को नष्ट करना है। क्यूनीन मैलेरिया के पराश्रयियों को नष्ट करने के लिये एक विशेष वस्तु प्रमाणित हुई है। रोग के दिनों में ५ ग्रेन नित्य खाने से रोग नहीं होता। रोग हो जाने पर १० ग्रेन क्यूनीन दिन में दो बार पाँच दिन तक लेने से रोग जाता रहता है।

यद्यपि क्यूनीन द्वारा रोग से स्वयं अपनी रक्षा हो सकती है किन्तु जनता से इसके द्वारा रोग नहीं मिटाया जा सकता। इसके लिये जितनी क्यूनीन की केवल हमारे देश के लिये आवश्यकता होगी उतनी सारे संसार में उत्पन्न नहीं की जा सकती।

प्लेग (Plague)

प्लेग एक अत्यन्त तीव्र संक्रामक रोग है जिसके नाम से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। यह रोग महामारी के रूप में फैलता है और उससे सहस्रों की मृत्यु होती है। सन् १८९८ से १९१८ तक एक करोड़ चालीस लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। किन्तु इधर कुछ वर्षों से मृत्यु संख्या में कमी हो रही हैं। इसका कारण स्वास्थ्य विभाग की सावधानी तथा रोग से उत्पन्न हुई कुछ सीमा तक रोग क्षमता उत्तरदायी है।

इस रोग में ज्वर अकस्मात् आरंभ होता है जो कुछ घण्टों ही में १०३°, १०४° या १०५° और १०७° तक पहुँच जाता है। प्यास बहुत तीव्र होती है। नेत्र भीतर को वैठे हुये, और मुख अत्यन्त चिन्ता जनक तथा रोगी वेहोश या उन्माद युक्त हो जाता है। कभी कभी कै और पतले दस्त भी आने लगते हैं। प्रायः चार या पाँच दिनों में रोग की गिल्टी निकल आती है जो ८० प्रतिशत रोगियों में दाहिनी जंघा के ऊपरी भाग में होती है। रोगी अचैतन्य रहता है, हृदय दुर्बल होता चला जाता है और पाँच या छः दिन में उसकी मृत्यु हो जाती है। यदि रोगी की दशा सुधरती है तो ज्वर गिल्टी इत्यादि सब लक्षण कम होते चले जाते है।

इस रोग के दो रूप और भी होते हैं। एक रूप में जीवाणु फुस्फुस में पहुँच कर निमोनिया के से लक्षण उत्पन्न कर देता है जिससे लोग उसको निमोनिया का रोगी समझते हैं। दूसरे रूप में जीवाणु सीधे रक्त में पहुँच जाते हैं जिससे रोगी का हृदय दुर्बल होता चला जाता है। उन्माद (Delerium) हो जाता है और अन्त को मृत्यु हो जाती है, इसमें ज्वर १०१° या १०२° से उपर नहीं होता। ये दोनों रूप घातक होते हैं और दोनों में रोगी की मृत्यु होती है।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको बैसिलस पैस्टिस (B. Pestis) कहते हैं। किस प्रकार यह मनुष्य तक पहुँचता है तथा चूहे की मक्खी द्वारा ये जीवाणु किस प्रकार चूहे तक पहुँचते हैं और

किस प्रकार चूहे रोग को फैलाने में भाग लेते हैं यह सब पहिले बताया जा चुका है। चूहे और इस रोग में अभिन्न सम्बन्ध है। पहिले इस रोग से चूहे मरने लगते हैं।

यह रोग शरद ऋतु, विशेष कर उसके अन्त के समीप मार्च और अप्रैल में फैलता है।

रोग को रोकने के उपाय—ज्यों ही चूहों में रोग फैले त्यों ही मकान छोड़ देना चाहिये। साथ में चूहों को पहिले बताये हुये उपायों द्वारा नष्ट करना चाहिये। विसंक्रामक वस्तुओं द्वारा चूहे की मक्खियों का नाश भी अत्यन्त आवश्यक है। मकान की स्वच्छता तथा अँधेरे और सील युक्त स्थानों में गन्धक जलाना, भोजन पदार्थों को इस प्रकार रखना कि वे चूहों को न मिल सकें तथा जहाँ रोग फैला हुआ हो वहाँ न जाना इत्यादि रोग से बचने के उपाय हैं।

स्वास्थ्य विभाग की ओर से रोगियों को पृथक् कर के उनकी चिकित्सा का और जिन मुहल्लों में रोग फैला हो वहाँ की स्वच्छता तथा विसंक्रामण का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये।

प्लेग का टीका—मोतीझरे, हैज़े की भाँति प्लेग के जीवाणुओं से तैयार कर के प्लेग की वैक्सीन के इंजैक्शन दिये जाते हैं जिनसे रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है। कुछ विद्वानों की राय में यह रोग क्षमता १८ मास तक रहती है।

पूर्ण अन्वेषण से पता लगा है कि जनता की यह धारणा कि इस टीके से हानि होती है बिल्कुल निर्मूल है। इंजैक्शन केअङ्कों से पता चला है कि इंजैक्शन लगे हुये व्यक्तियों की अपेक्षा इंजैक्शन लगे हुए व्यक्तियों में ५ गुणा रोग हुआ। प्रथम श्रेणी के रोगियों में ३६.५ प्रतिशत मृत्यु हुई। टीका न लगे हुये रोगियों में ७२ प्रतिशत की मृत्यु हुई।

फाइलेरिया (Filariasis)

यह रोग हमारे देश में बहुत होता है। विशेषकर दक्षिण, तराई और

मद्रास की ओर यह रोग बहुत है। संयुक्त प्रान्त में गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, बलिया आदि पूर्वी सूबों में भी यह रोग बहुत होता है।

इस रोग का साधारण रूप पाँवों और टाँगों के चर्म का मोटा पड़ जाना है। कभी कभी चर्म इतना मोटा हो जाता है कि टाँग की मोटाई साधारण की अपेक्षा तिगुनी, और चौगुनी हो जाती है। बाहुओं में भी यह रोग देखा जाता है।

कुछ रोगियों में केवल ज्वर आता है और एक दो स्थान पर लसीका ग्रन्थि (Lymphatic gland) फूल जाती हैं।

यह रोग एक कृमि के कारण उत्पन्न होता है। ये कृमि लसीका ग्रन्थियाँ, लसीका वाहनियों और चर्म के नीचे पाया जाता है जहाँ पर वे लसीका के परिभ्रमण (Circulation) को रोक देते हैं। इसी कारण चर्म के नीचे के भाग बढ़ कर मोटे पड़ जाते हैं।

इन कृमियों का संवहन मच्छर के द्वारा होता है। किन्तु यह मच्छर दूसरी जाति का होता है जिसको क्यूलैक्स फ़ैटीजैन्स' कहते हैं।

रोग को रोकने के उपाय—मैलेरिया के समान मच्छरों का नाश करना ही इस रोग को रोकने का उपाय है।

कालाजार

यह रोग हमारे देश के पूर्वीय भागों में अधिक पाया जाता है। आसाम और बंगाल तो इसके घर ही हैं। बिहार और संयुक्त प्रान्त के पूर्वी भाग में भी होता है। किन्तु पंजाब, सिन्ध, राज्यस्थान संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग तथा मध्य प्रान्त में नहीं पाया जाता। ४००० फ़ुट से अधिक ऊँचे स्थानों जैसे शिलांग में भी यह रोग नहीं होता।

इस रोग में ज्वर आता है जो चौबीस घंटे में प्रायः दो बार घटता और बढ़ता है। कभी कभी ज्वर पूर्णतया उतर भी जाता है। इस प्रकार पाँच या छः सप्ताह तक ज्वर चलता है जिसके पश्चात् ज्वर जाता रहता है। रोगी के यकृत और प्लीहा बढ़ जाते हैं। कुछ समय के बाद फिर पहिले ही सा ज्वर आने लगता है। इसी प्रकार कई महीनों तक क्रम चलता रहता है। यकृत और प्लीहा बराबर बढ़ते जाते हैं। कुछ पुराने रोगियों में प्लीहा इतनी बढ़ जाती है कि वह आधे उदर को घेर लेती है। रोगी का शरीर रक्त के नाश से श्वेत दिखाई देने लगता है। दस्तों में ख़ून आने लगता है। मसूड़ों से भी ख़ून जाता है। अन्त को ज्वर सदा बना रहता है और रोगी की मृत्यु किसी दूसरे रोग जैसे निमोनिया या पेचिश (आँव ख़ून के दस्तों) से हो जाती है।

इस रोग का कारण एक पराश्रयी होता है जिसको लीशमैन डोनोवन बाड़ी (Leishman Donovan Bodies) कहते हैं। ये पराश्रयी एक विशेष जाति की मरुमक्षिका (Sand-fly) के द्वारा मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं। यही मक्खी छोटी और कुछ भूरे रंग की होती है। शरीर और परों पर बाल होते हैं। टाँगें पतली और लम्बी होती हैं। आगे मुख पर काटने और रक्त चूसने के लिये एक डंक होता है।

रोग को रोकने के उपाय--मरुमक्षिकाओं को नष्ट करना ही रोग को रोकने का उपाय है। इनके उत्पन्न होने के स्थानों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर नष्ट करना चाहिये। मकान के पीछे किसी प्रकार का कूड़ा, पशुओं की विष्ठा, जङ्गली वनस्पति इत्यादि एकत्र न होने पावें। मकान में जिन स्थानों में सील हो, प्रकाश और वायु न पहुँचते हों, वहाँ गन्धक का धुआँ करना चाहिये; फ़ारमेलीन छिड़कनी चाहिये। शौच स्थान और गुसलख़ानों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। फ़र्श और

दीवारों की दरारों में भी यह मक्खियाँ पाई जा सकती हैं। इसलिये उनकी ओर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये।

मक्खियों से बचने के लिये मसहरियों का प्रयोग उचित है।
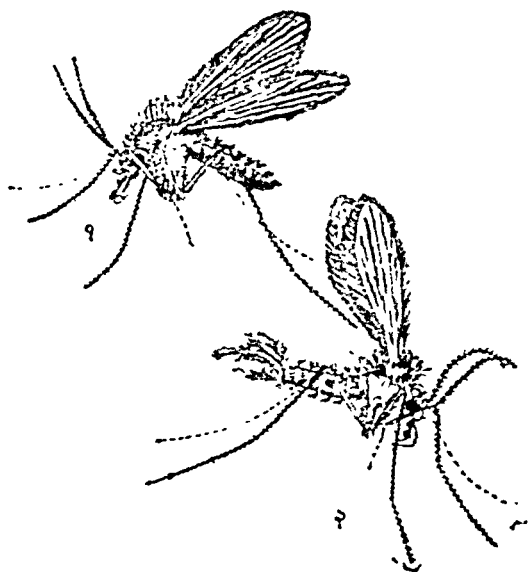
फ्लिबोटेमस आर्जेन्टापेस नामक मरुमक्षिका १. नर २. मादा—चित्र ३८

कुष्ठ (Leprosy)

इसको साधारणतया कोढ़ कहा जाता है। यह बड़ा ही दुष्ट और यंकर रोग है। सारे चेहरे और शरीर को विगाड़ देता है। इसके दो प पाये जाते हैं। एक रूप में मुँह के चर्म में मोटा पन आ जाता है और ाटी छोटी गाँठें बन जाती हैं। भौं के सारे वाल गिर जाते हैं। चर्म

में सिलवटें पड़ जाती हैं। इनके उत्पन्न होने से पहिले चर्म में लाल रंग के दाने पड़ जाते हैं। इन्हीं के नीचे गाँठें बनती हैं।

दूसरे रूप में गाठें नहीं बनतीं। किन्तु शरीर के चर्म में जहाँ तहाँ ऐसे प्रान्त बन जाते हैं जहाँ की चेतनाशक्ति नष्ट हो जाती है। यदि इन स्थानों में सुई चुभाई जावे तो कुछ भी न मालूम होगा।

इस रोग में प्रायः हाथ और पाँवों की उंगलियाँ गिरने लगती हैं। कानों पर मोटी गाँठें बनकर घाव पड़ जाते हैं। पहले प्रकार के रोग में स्वर यन्त्र में गाँठें और घाव के उत्पन्न होने से मृत्यु होती है। दूसरे प्रकार में मृत्यु शीघ्र नहीं होती। तीस तीस वर्ष तक रोगियों को जीते हुए देखा गया है।

यह रोग संसार भर में फैला हुआ है और अत्यन्त प्राचीन है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका वर्णन पाया जाता है। योरुप में स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों के पूर्ण पालन से इस रोग को बहुत कम कर दिया गया है। टर्की, रूस, ग्रीस, जापान, चीन, और मिस्र इत्यादि देशों में रोगियों की बहुत संख्या पाई जाती है। यह अनुमान किया जाता है कि हमारे देश में इस समय ५००,००० कुष्ठ के रोगी हैं। किन्तु वास्तव में संख्या इससे कहीं अधिक है।

रोग का कारण—इस रोग का कारण एक बहुत छोटा जीवाणु होता है जिसको Bacillus Lapræ कहते हैं। शरीर में जहाँ भी रोग होता है वहाँ यह जीवाणु पाया जाता है। इसका आकार राजयक्ष्मा के जीवाणु से बहुत कुछ मिलता है। अभी तक यह ठीक प्रकार से नहीं मालूम किया जा सका है कि यह किस प्रकार रोगी के शरीर से दूसरों के शरीर में पहुँचता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि खटमल, मक्खी इत्यादि के द्वारा जीवाणु शरीर पर पहुँच जाता है। और जब हम शरीर को खुजाते हैं तो उससे उत्पन्न हुए छोटे छोटे घावों में होकर शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाता है।

रोग को रोकने के उपाय—रोगी को भलीभाँति जाँच कर रोग को हिचानने पर उसको दूसरे लोगों से पृथक् कर देना चाहिये। इन ोगियों के रहने के लिये विशेष आश्रम अथवा उपनिवेश होने चाहिये। ोरुप में इस प्रकार के उपनिवेश (Leper's Colony) बने हैं। हाँ पर केवल कुष्ठ के रोगी ही रहते हैं और प्रत्येक काम, सौदा बेचना, दुकानें लगाना, सफ़ाई करना, रोगियों ही द्वारा किया जाता है। मज़दूर, दूकानदार, क्लर्क, अफ़सर सब रोगी ही होते हैं। सिनेमा इत्यादि का भी मनोरंजन के लिये प्रबन्ध है। और साथ ही पूर्ण चिकित्सा का भी प्रबन्ध है।

हमारे देश में अभी तक ऐसे उपनिवेश नहीं बने हैं। जो Leper's Asylum या चिकित्सालय हैं वहाँ मध्यम अथवा धनवान श्रेणी के लोग रहना पसन्द नहीं करते। इस कारण, यदि देश में रोगी को आश्रम या उपनिवेश में रखने का क़ानून न हो तो मकान ही में एक उत्तम दूर के कमरे में रोगी को पृथक् करके रखा जाय। वहाँ वह किसी अपने परिवार वाले या मित्र से न मिलें और न बालकों ही को उनके पास जाने दिया जाय।

अंकुर कृमि रोग (Hookworm Disease)

यह रोग अत्यन्त शीत देशों के अतिरिक्त सारे संसार में पाया जाता है। हमारे देश में यह रोग बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त के पूर्वी भागों में बहुत होता है। यह अनुमान किया जाता है कि बिहार में ८० प्रतिशत और बङ्गाल में ६६ प्रतिशत जनता इस रोग से ग्रस्त है। मलाया चीन, स्याम, मिश्र आदि देशों में भी रोग बहुतायत से होता है।

कारण—इस रोग का कारण एक कृमि है जिसको Ankylostoma Duodenale कहते हैं। चित्र से उसका आकार स्पष्ट है। इस

कृमि की लम्बाई लगभग आधे इंच मोटाई सूत के समान और रंग कुछ भूरा सा होता है। नर की अपेक्षा मादा अधिक लम्बी होती है। आगे की ओर मुख और शरीर का पीछे का भाग चौड़ा होता है।

यह कृमि आन्त्र में रहता है और वहाँ की श्लैस्मिक कला पर चिपट कर व्यक्ति का रक्त चूसता रहता है। इससे व्यक्ति बराबर दुर्बल होता चला जाता है और उसका चर्म श्वेत और रक्त रहित दिखाई देने लगता है। उसकी काम करने की शक्ति बहुत कम हो जाती है। तनिक सा परिश्रम करने पर उसका साँस फूलने लगता है। इससे न केवल उसको ही जीवनोपार्जन करना कठिन हो जाता है किन्तु यह रोग जातीय आर्थिक हानि का कारण होता है। इस कारण यह रोग एक जातीय-आर्थिक प्रश्न है। इस पर दो बार कमीशन बैठ चुका है।

अंकुरकृमि—ऐंकिलोस्टोमा ड्यूडीनेल
१. नर २. मादा—चित्र ३६

यह कृमि शरीर में दो मार्गों से प्रवेश करता है—(१) मुख द्वारा और (२) चर्म द्वारा। भोजन अथवा जल के साथ पहुँच कर मुख में

होता हुआ अंत्रियों में पहुँच जाता है। दूसरे धूल इत्यादि के साथ चर्म के सम्पर्क में आने पर वह चर्म का छेदन करके चर्म के नीचे की रक्त नलिकाओं में पहुँच कर वहाँ से रक्त प्रवाह द्वारा हृदय और फेफड़ों में होता हुआ श्वास नलिका में होकर अन्न प्रणाली में पहुँच कर वहाँ से अन्त्रियों में पहुँच जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि कृमि सदा इसी मार्ग से शरीर में पहुँचता है।

रोग को रोकने के उपाय—रोगी के शरीर से कृमि के अंडे उसके मल द्वारा भूमि में पहुँचते हैं। वहाँ अंडे से कृमि बनते हैं जो चर्म द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करते हैं। यदि भूमि में कृमि के अंडे न हों तो रोग भी न फैले।

अतएव भूमि को अंडों द्वारा दूषित न होने देना, रोग ग्रस्त व्यक्तियों की पूर्ण चिकित्सा और जनता में रोग संबन्धी ज्ञान फैलाना रोग को रोकने के उपाय हैं। जहाँ तहाँ लोगों को मलत्याग करने से रोका जाय। रोगाक्रान्त स्थानों में उत्तम शौच स्थान बनाये जायँ जिनका प्रयोग वहाँ की जनता द्वारा हो।

रोगियों की चिकित्सा का भी पूर्ण प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि सब रोगी रोग मुक्त हो जायँ तो फिर रोग के फैलने की संभावना भी न रहे।

प्रश्न

१—चेचक (Small-pox) रोग किस प्रकार फैलता है? इसको रोकने के क्या उपाय हैं?

२—डिप्थीरिया रोग किस आयु में अधिक होता है? इसके क्या लक्षण हैं? बच्चे को रोग होने पर क्या करना चाहिये? इससे बचने के लिये उपाय बताओ।

३—इनफ्लुयेंजा से क्यों कर बचोगे?

४—राजयक्ष्मा किन कारणों से होता है ? इस रोग के कौन कौन से रूप पाये जाते हैं ? इस रोग से अपने परिवार वालों को किस प्रकार बचावोगे तथा जनता में रोग न फैलने पावे इसके लिये क्या उपाय करोगे ?

५—हैज़ा किन कारणों से फैलता है ? रोग से स्वयं बचने के लिये क्या उपाय करोगे तथा जनता को किस प्रकार बचाओगे ?

६—मोतीझरे (Typhoid) से बचने के लिये क्या करोगे ?

७—मैलेरिया किन दिनों में, अधिक फैलता है ? रोग का क्या कारण होता है ? इस को रोकने के लिये क्या उपाय करोगे ?

८—प्लेग से बचने के लिये क्या करोगे ?

९—फ़ाइलेरिया रोग के क्या लक्षण हैं। उससे बचने के क्या उपाय हैं।

१०—कालाज़ार किस प्रकार फैलता है ? किन उपायों से इससे बच सकते हैं ?

११—कुष्ट के रोगियों के लिये क्या प्रबन्ध करना चाहिये जिससे यह रोग न फैलने पावे ?

१२—अंकुर कृमि रोग किस कारण होता है ? इससे क्या लक्षण उत्पन्न होते हैं और व्यक्ति तथा जाति को क्या हानि पहुँचती है ? इसको रोकने के लिये क्या करोगे ?

QUESTIONS

1. What are the causes of cholera ? If an epidemic breaks out in the locality in which you live, what will you do to prevent the spread of the disease ? If a member of your family is striken with the disease how will you take care of him ? (U. P. 1935)

2. What part do mosquitoes and flies play in human welfare ? Can you mention any method by which you can prevent their increase in the locality in which you live ? What are some of the conditions in the villages that help their increase ? (U. P. 1935)

3. Discuss the relative importance of the different sources of water supply in India. How may they be polluted ? Describe some of the methods used for purifying drinking water. (U. P. 1935)

4. What is meant by Vitamins ? What harmful effects are likely to occur from a diet lacking in vitamins. Name one of the important foods containing them. What is the relation of cooking to Vitamins ? (U. P. 1936)

5. Describe bad effects of the use of
(*a*) Alcohol (*b*) Opium. (U. P. 1936)

6. What chief precautions would you take in each case if the following diseases come into your neighbourhood ?
(*a*) Plague (*b*) Entric (*c*) Cholera. (U. P. 1936)

7. What do you mean by disinfection ? What are the natural disinfectants ? What measures would you adopt to disinfect a sick room occupied by a patient suffering from an infectious disease ? (U. P. 1937)

8. You cannot be healthy without breathing pure air. Why ? What amount of cubic space would you allow for a healthy adult so as to ensure that the air of the room is not polluted ?

use of infected water. Write an account of one of those you mention. (U. P. 1941)

18. What do you understand by a communicable disease ?

How do germs enter and leave the body ?

What do you understand by ' carriers ' of disease ?

What are the symptoms of Influenza ? (U. P. 1942)

19. Explain what foods give us each of the following substances, and why the body needs them:—

(*a*) Calcium, (*b*) Sugar, (c) Vitamin B *or* C. (Patna, 1937)

20. Describe the symptoms and treatment of—

(*a*) Small-pox ; (*b*) Consumption.

What special precautions must be taken to prevent the spread of infection of these two diseases ?

(Patna, 1937)

21. If a river was the only source of water supply to a town, how would you keep it free from contamination ? What precautions would you take before using it for drinking purposes in your family ?

(Patna, 1939)

22. How are the following diseases communicated? What would you do to check their spread ?—

(*a*) Tuberculosis. (*b*) Itches. (*c*) Ophthal (sore eyes). (Patna, 1939)

23. Mention the various diseases that are communicated through air and water, and describe the simple precautions that you may take against their spread. (Patna, 1939)

24. What is meant by disinfection ? Classify the disinfectants. Name some of the important ones which are of daily use, and briefly discuss the advantages of each. How would you disinfect a well ? (Patna, 1939)

34. Write short notes on :—
(*a*) Diphtheria ; (*b*) Leprosy.
(Patna, 1943)

35. What are the impurities found in the air ? How will you purify the air of a sick-room ?

(Benares, 1936)

36. What are the sources of water supply ? How will you purify impure water ? (Benares, 1936)

37. What precautions will you take against the infection of Enteric Fever and Cholera ?
(Benares, 1936)

38. What precautions will you take against the infection of small-pox, itch, influenza and malaria ?
(Benares, 1937)

39. How will you disinfect clothes, bedding, and room occupied by a cholera patient ? Give a list of common disinfectants and their uses. (Benares, 1937)

40. What diet would you recommend, and why, to a man doing—

(*a*) hard brain work (*b*) hard muscular work
(*c*) leading a sedentary life ? (Benares, 1937)

41. How is water polluted in wells, tanks, and rivers ? How will you purify it for drinking purposes ? Name a few infectious diseases caused by impure water. (Benares, 1938)

42. How is tuberculosis spread ? What precautions will you take if you have a case of tuberculosis of lungs in your house ? (Benares, 1938)

43. How is plague spread ? When it breaks out in your city or village what precautions will you take ?
(Benares, 1938)

54. What is meant by 'Essential constituents of Diet'? What is the function of each of them? Which of them is required most for a growing baby, and from which articles of food can it be obtained?

(Benares, 1942)

55. What diseases spread through the air? How would you prevent the spread of tuberculosis (*a*) in the public, and (*b*) to other members of your family, from a person suffering from it? (Benares, 1942)

56. What is vaccination? What precautions would you adopt if a member of your family suddenly gets an attack of small-pox? (Benares, 1942)

57. Write the composition of expired and inspired air. What use is made by the body of the oxygen retained during respiration, and how?

(Benares, 1943)

58. (*a*) What kind of well will you have for your house? Describe in brief the character of such a well.

(*b*) How will you purify water for family use? (Benares, 1943)

59. How will you prevent the spread of the following diseases in (*a*) your family, and (*b*) public?

(i) Plague, (ii) Small-pox, (iii) Cholera.

(Benares, 1943)

60. How is Malaria caused? Describe in brief the life cycle of malarial parasite and the mode of its transmission from one person to another.

(Benares, 1943)